श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २०९

श्रीवामनाचार्यविरचिततदुपज्ञवृत्तिक-

काव्यालङ्कारसूत्राणि

श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित-

'काव्यालङ्कारकामधेनु'-टीकया हिन्दीव्याख्यया चोपेतानि

(तृतीयाधिकरणमात्रम्)

हिन्दीव्याख्याकारः

डॉ० बेचन झा

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

तदुपज्ञवृत्तिक-

काव्यालङ्कारसूत्राणि
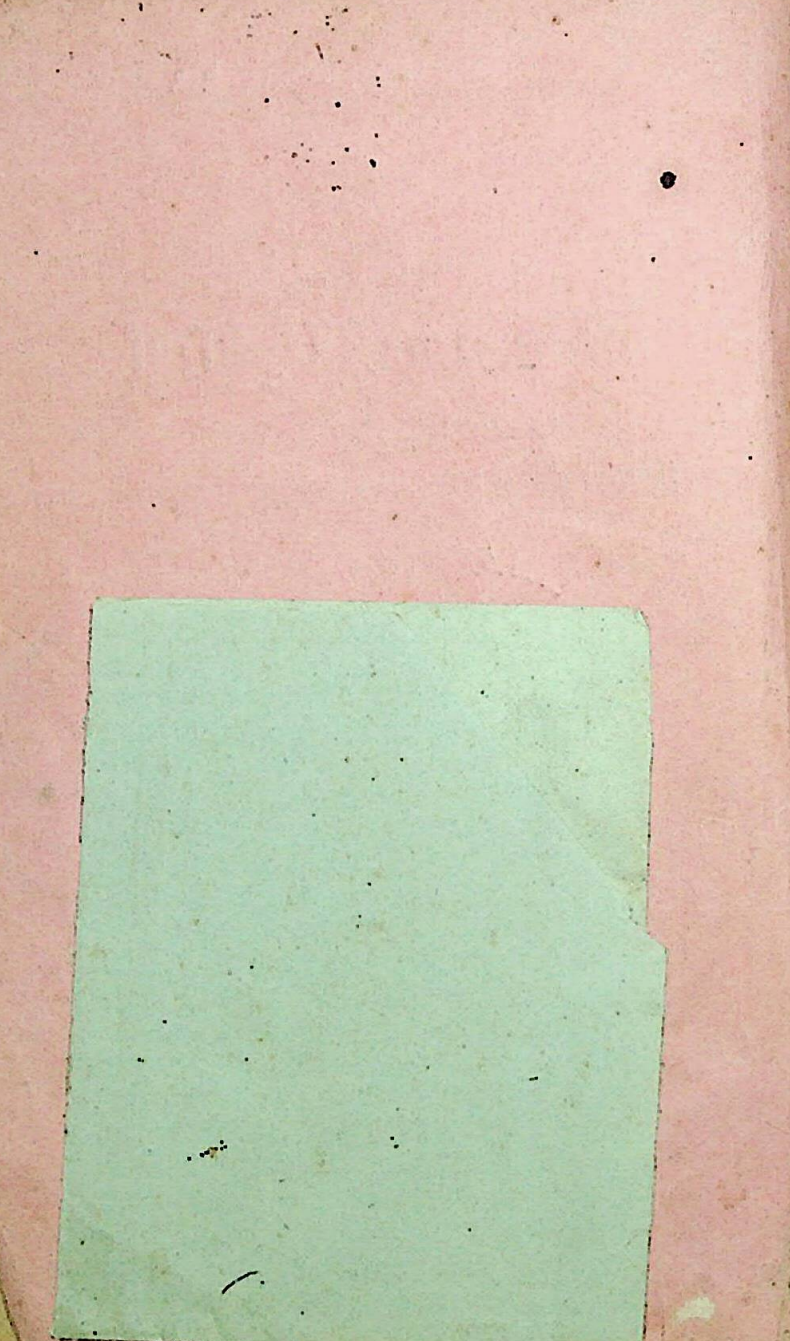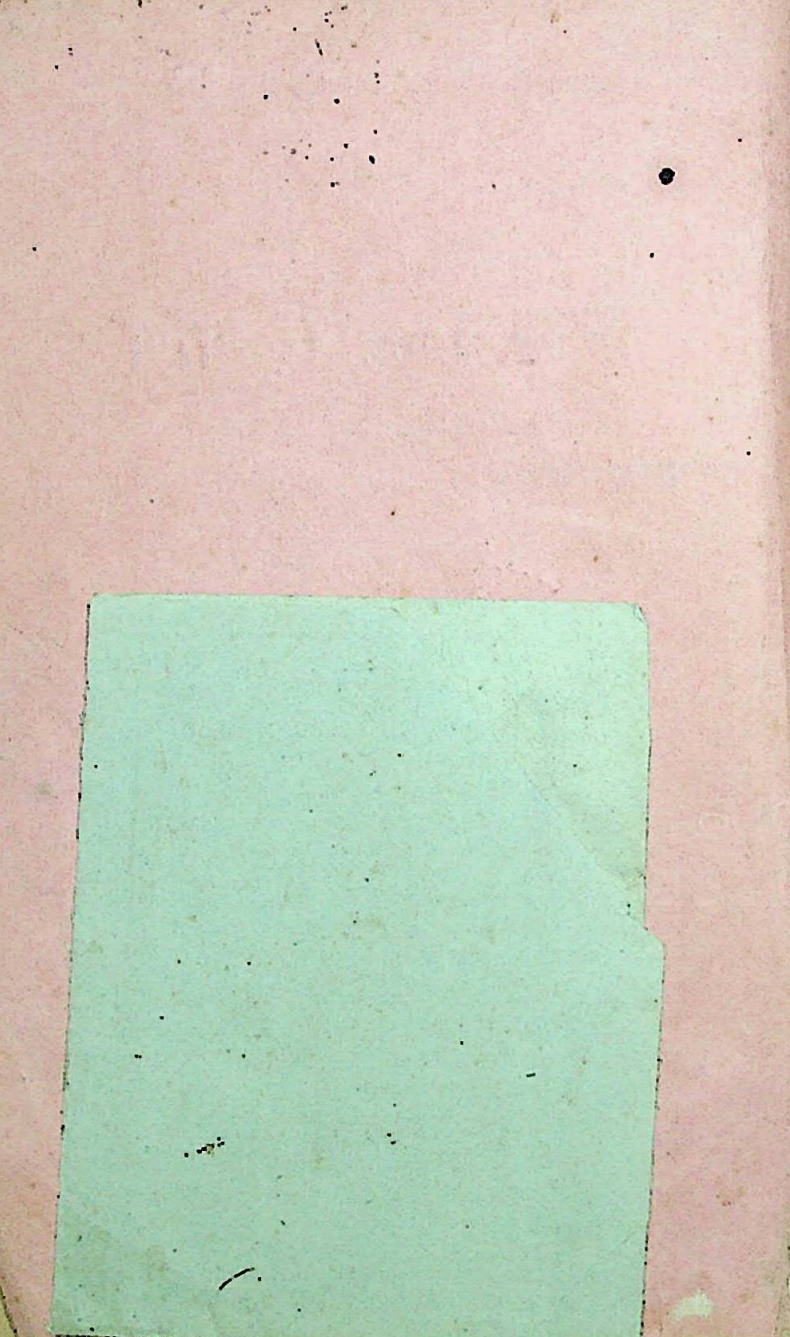
श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित-

'काव्यालङ्कारकामधेनु'-टीकया हिन्दीव्याख्यया चोपेतानि

(तृतीयाधिकरणमात्रम्)

हिन्दीव्याख्याकारः

डॉ० बेचन झा

सम्पादकः

कपिलदेव गिरि, साहित्याचार्य, एम० ए०

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०३९

मूल्य : रु० ३–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० ८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
209

KĀVYĀLANKĀRA SŪTRA

OF

ĀCHĀRYA VĀMANA

With the

Kāvyālankārakāmadhenu Sanskrit commentary

OF

ŚRĪ GOPENDRA TRIPURAHARA BHŪPĀLA

(Tṛtīyādhikaraṇam)

With Hindi Translation

BY

Dr. BECHANA JHĀ

Prof. of Sanskrit, Patna University, Patna.

Edited with Introduction

BY

KAPILDEO GIRI, Sāhityāchārya, M. A.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

भूमिका

अलंकारशास्त्र का इतिहास

अलङ्कारशास्त्र का इतिहास बड़ा ही उत्प्रेरक, हृदयग्राही तथा रसपेशल है एवं चित्ताकर्षक है। इतिहास की वाटिका में प्रवेश से पहले 'अलङ्कार' शब्द की थोड़ी निरुक्तिजन्य परिभाषा पर विचार कर लिया जाय तो विषय-वस्तु को समझने में अति सुगमता होगी। संस्कृत अलम् + कृ + घञ् से अलङ्कार शब्द की निष्पत्ति होती है। महाकवि कालिदास ने अलङ्कार शब्द सर्वप्रथम 'भूषण' के अर्थ में प्रयोग किया है (अलङ्कारः स्वर्गस्य—वि०-१.३)। इसके बाद यह 'वर्णन की वह रीति जिसमें चमत्कार और रोचकता आ जाय' अलङ्कार शब्द से अभिहित किया गया जैसे उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि। फिर इससे सम्बन्धित जो शास्त्र निर्मित हुए 'अलङ्कार-शास्त्र' के नाम से कहा जाने लगा। आचार्य वामन ने उपमा, रूपकादि की परिधि से ऊपर उठकर अलङ्कार शब्द को अन्तस्तल से निहारा और इसकी रूप-सज्जा पर मुग्ध होकर इसे 'काव्य का सर्वस्व सौन्दर्य है' ऐसा नामकरण कर दिया जो सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में अद्भुत है, अप्रतिम है एवं अकल्पित है। इस प्रकार वामनाचार्य ने अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करते हुए यों लिखा—

सौन्दर्यमलङ्कारः—का० सू० १।२

फिर इसकी वृत्ति में इसका विशद विवरण इस रूप में दिया—

अलंकृतिरलङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कार शब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते ॥ २ ॥

अर्थात् 'वस्तुतः तो अलङ्कार संज्ञा सौन्दर्य को ही दी जा सकती है, उपमा आदि जो अलङ्कार कहा जाता है वह तो सौन्दर्योत्पत्ति में सहायक होने के कारण।' कहने का अभिप्राय यह है कि अलङ्कार फल है, उपाय नहीं। जैसे

पूजा-अर्चना-विधि में मूर्ति भगवान् का कल्पित साधनमात्र है वैसे ही साधन या उपाय के लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग है। संस्कृत से 'अलम्' अव्यय है। इसका अर्थ 'पर्याप्त' एवं 'पूर्ण' है। इसलिए भारतीय संस्कृति में 'ब्रह्म' को 'अलं' शब्द से कहा गया है; क्योंकि ब्रह्म ही एक पूर्ण है। इस प्रकार कवि की भावाभिव्यक्ति में जो शब्दसृष्टि हुई वह ब्रह्मसृष्टि हुई। तब 'अलम्' और 'ब्रह्मन्' में मूलतः कोई भेदक रेखा प्रतीत नहीं होती। फिर ब्रह्म से बढ़कर इस विश्व में कोई 'सौन्दर्य' का बोधक तत्त्व नहीं दीखता। कालक्रम से 'सौन्दर्य' शब्द ही 'सूनर' रूप में हमें भोजपुरी के द्वार पर प्राप्त हुआ है। जिसका उत्स ऋग्वेद में भी बता दिया गया है। यदि यह अपभ्रंश 'सूनर' सचमुच में ऋग्वेद में अपना अस्तित्व कायम करता है तो कहना पड़ेगा कि अपभ्रंश का बीज अंकुर के रूप से वट वृक्ष के रूप में ऋग्वेद काल में खड़ा था जिसे भाषा वैज्ञानिकों को परखना चाहिए। अस्तु; सचमुच में वामन की कल्पना एक दार्शनिक की कल्पना है जिसने सौन्दर्य को 'अलङ्कार' उद्घोषित किया। इस प्रकार यह अलङ्कार संज्ञा समग्रसंज्ञा के रूप में है जिस प्रकार वाक्विश्व में ब्रह्मसंज्ञा। इस प्रकार अलङ्कार-शास्त्र काव्य एवं काव्यशास्त्र के सौन्दर्य को सुसम्पन्न करने वाले समस्त उपकरणों का प्रतिपादक शास्त्र है। अतः 'अलङ्कार' शब्द का यही व्यापक अर्थ है।

अलङ्कारशास्त्र यह कहीं से उधार लिया हुआ नहीं है यह तो इसी धरती की उपज है। भारतवर्ष बड़ा सुन्दर सुभूमिदेश है। इसके दो रूप हैं : एक चिन्मय भारत, दूसरा मृण्मय भारत। मृण्मय भारत इसका बाहरी रूप है जबकि चिन्मय भारत आन्तरिक। इसका बाहरी रूप जितना ही नयनाभिराम है आन्तरिक रूप भी उतना ही देदीप्यमान है। यहाँ गंगा-जमुना की धारा में चन्द्रिका की तरह सरस्वती की निर्मल कान्तिमय धारा प्रवाहित होती रहती है तथा इसी सारस्वत-भूमि में प्रकृति नारी की रमणीय रंगस्थली में आर्यों की सामगीति का गुञ्जन हुआ और ललितकला तथा कमनीय कविता से इसकी कांति निखर उठी। फलतः इसी भारत भूमि पर कोमल कविता की उत्पत्ति हुई है। नाट्यकला की परिधि से बाहर आकर इसने अपना स्वतंत्र सत्ता कायम किया। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के आदिकवि के रूप में आते हैं, साथ ही उन्हें आदिम आलोचक के रूप में भी हम पाते हैं। कविता का उदय कवि की कारयित्री प्रतिभा

से होता है और भावयित्री प्रतिभा से भावकता का। महर्षि वाल्मीकि में ये दोनों प्रतिभायें पूर्णरूप में प्राप्त होती हैं। कितना कारुणिक वह दृश्य रहा होगा जब क्रूर व्याध के बाण से घायल होकर क्रौञ्चपक्षी भूलुण्ठित हुआ होगा और उसकी मादा क्रौञ्ची का हृदय विदारक रुदन हुआ होगा। तभी तो विलख-विलख कर रोनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर आदिकवि से रहा नहीं गया और उस तपःपूत ऋषि के मुँह से निम्नोक्त श्लोक बरबस निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

फिर इसकी व्याख्या के रूप में महर्षि की भावाभिव्यक्ति इस प्रकार प्रस्फुटित होती है—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनु व्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ वा० का० २।४०

व्याध का बाण क्रौंच पक्षी पर नहीं आघात करता, बल्कि ऋषि के हृदय को वेधता है तभी तो वह क्रांतदर्शी आदिकवि 'श्लोक' के साथ 'शोक' का समीकरण करता है। इसलिए वह परम उच्चकोटि का भावक कवि है, आलोचक है[1], समीक्षक है। हृदय की भावाभिव्यक्ति ही कविता का मूल स्रोत है। कवि के हृदय में तरंगित होनेवाले विचारों, भावों को शब्द सुमनों द्वारा गुंफित ललित वस्तु को ही 'कविता' कहते हैं। श्रोताओं तक अपनी भावाभिव्यक्ति को पहुँचाने के लिए कवि का हृदय भावों द्वारा पूर्ण होकर जबतक छलकता नहीं; अपनी अनुरागमयी भावाभिव्यक्ति के लिए शब्दों का कञ्चनमय कमनीय कलेवर जब तक भाव नहीं ग्रहण करता तब तक नवरंगी कविता कामिनी की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए महर्षि वाल्मीकि महान् आलोचक कवि हैं। महाकवि कालिदास[2] और आनन्दवर्धन[3] ने भी शोक तथा श्लोक का समीकरण करने वाले महर्षि वाल्मीकि को महाकवि तथा महान् आलोचक अंगीकार किया है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि संस्कृत कविता के जन्म के साथ ही साथ संस्कृत आलोचना शास्त्र का भी जन्म

---

१. देखिये—पं० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० १५७
२. रघु० १४।७०, ३. ध्वन्यालोक—१।८।

हुआ। जिस प्रकार आदिकवि की राममयी कविता को जीवनदायिनी सरस्वती की धारा मानकर बाद के महाकवियों ने अपने महाकाव्य का भव्य स्वरूप निर्धारित किया उसी प्रकार आलङ्कारिकों ने भी काव्य स्वरूप का महनीय संकेत इसी आदिम महाकाव्य रामायण से ग्रहण किया और अपने अलङ्कारशास्त्र को अनुप्राणित किया।

प्राचीन परम्परा

अलङ्कारशास्त्र आलोचकों की सूक्ष्म आलोचना-पद्धति का पर्याप्त सूचक है। यह लौकिक लक्षण-ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान के लिए अति उपयोगी शास्त्र है। प्राचीनता के सन्दर्भ में अलङ्कारशास्त्र का मूल स्रोत वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध हो जाता है। अलङ्कारों में उपमालङ्कार अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद[1] की ऋचा में उषा के वर्णन में चार उपमायें एक साथ दी गई हैं। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार भी ऋग्वेद में[2] है। उपनिषदों में भी अलङ्कारों की चर्चा आई है। कठोपनिषद् में रूपकालङ्कार का सुन्दर वर्णन मिलता है।[3] निरुक्त में भी उपमा की उपलब्धि होती है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में भी उपमा का उल्लेख है (उपमानानि सामान्यवचनैः—२।१।५५)। ऋग्वेद में इसका उल्लेख होने से राजशेखर[4] ने अलङ्कारशास्त्र को वेद का अङ्ग स्वीकार किया है। भामह ने अपने ग्रन्थ को 'काव्यालङ्कार' कहा है और वामन ने भी अपने ग्रन्थ को 'काव्यालङ्कारसूत्र' कहा है चूँकि वृत्ति भी उन्हीं की बनाई हुई है अतः ग्रन्थ का पूरा नाम 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' है। अतः 'अलङ्कार' तथा अलङ्कार से सम्बन्धित शास्त्र अलङ्कारशास्त्र कहा जाता है और यह नाम अति प्राचीन है। इसकी परम्परा भी प्राचीन है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। अलङ्कार युग ही इसके नामकरण में प्रथम भूमिका का निर्वाह करता है। राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा में अलङ्कारशास्त्र की प्राचीनता की एक रोचक कथा दी है। उनके अनुसार भगवान् शिव ने इस अलङ्कारशास्त्र की शिक्षा सबसे पहिले ब्रह्मा को दी; फिर ब्रह्मा ने इसका उपदेश अनेक देवताओं और ऋषियों को दिया; फिर

---

१. ऋ० वे० १।१४।७। २. ऋ० १।१६४।२०। ३. कठो० १।३।३। द्र०—पं० बलदेव उपाध्याय—संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० १५२।

४. काव्यमीमांसा।

भरत ने रूपक का निर्माण किया। इस प्रकार भरत रचित नाट्यशास्त्र ही नाट्य तथा अलङ्कार का प्राचीन ग्रन्थ के रूप में उपस्थित हुआ। इसे भारतीय ललितकलाओं का विश्वकोश के रूप में माना गया है। यद्यपि इसमें प्रधानता नाट्य की है तथापि यहाँ अलङ्कारशास्त्र; संगीतशास्त्र तथा छन्दशास्त्र आदि शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। भरत से आगे भामह, दण्डी, वामन, उद्भट आदि के द्वारा गतिशील होते हुए पण्डित जगन्नाथ तक इसने अपना अस्तित्व कायम रखा है। इस अवधि में अलङ्कारशास्त्र के विचारों का काफी मंथन हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप अनेक आलङ्कारिकों की प्रतिभा से अलङ्कार-शास्त्र का भण्डार भरा है।

सम्प्रदायों में बँधा हुआ अलङ्कारशास्त्र

अलङ्कारशास्त्रों के अध्ययन से यह पता चलता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय हो गए थे। आलङ्कारिकों के सामने मुख्य विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन, यानी वह वस्तु कौन है जिसके रहने पर काव्यत्व विद्यमान रहता है। अतः काव्य रूप उस महामनस्वी के परम सत्ता को, विभिन्न रूपों को परखा और काव्य के विभिन्न अंगों पर अच्छी तरह विचार करने के उपरान्त अलङ्कारशास्त्री जब उस काव्यरूपी आत्मा की खोज में गए तो किसी ने अलङ्कार को ही काव्य का मूल तत्त्व पाया, किसी ने गुण या रीति के रूप में प्राप्त किया तो किसी ने ध्वनि को ही काव्य का स्वरूप बताया, तो किसी ने रस को ही काव्य का मूलाधार ठहराया। इस प्रकार यह भेद बढ़ते गया जो एक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। इन सम्प्रदायों के उदय की कहानी अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने प्रामाणिक शैली में लिखी है। विशेष विवरण को इतिहास के सन्दर्भ में अवलोकनीय है। वामन के पहले तक इन सम्प्रदायों के छः भेद मिलते हैं:—

१. रससम्प्रदाय—भरतमुनि, नन्दिकेश्वर।
२. अलङ्कारसम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट।
३. गुणसम्प्रदाय या रीतिसम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन।
४. वक्रोक्तिसम्प्रदाय—कुन्तक।

५. ध्वनिसम्प्रदाय—आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त।

६. औचित्यसम्प्रदाय—क्षेमेन्द्र।

डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी केवल दो ही सम्प्रदाय शुद्ध मानते हैं. १. अलंकार सम्प्रदाय, २, ध्वनि सम्प्रदाय। इसलिये कि इन छः सम्प्रदायों की चर्चा प्राचीन काव्यशास्त्र में सम्प्रदाय नाम से नहीं मिलती।[१] वाचस्पति गैरोला के संस्कृत साहित्य के इतिहास में पाँच सम्प्रदायों की तालिका हैं जब कि पं० बलदेवजी उपाध्याय के संस्कृत साहित्य के इतिहास में ६ सम्प्रदायों का स्पष्ट निर्देश है। अतः आलंकारिकों का अलग-अलग विवरण वहीं देखना चाहिए। यहाँ रीति सम्प्रदाय की संक्षिप्त रूपरेखा देकर आचार्य वामन की स्थिति तथा रचना का दक्दर्शन मात्र कराना उद्देश्य है।

रीतिसम्प्रदाय

सुन्दर अभिव्यक्ति के विधान, ढङ्ग या आकर्षक प्रतिपादन शैली को ही रीति कहते हैं।[२] अलंकारशास्त्र के प्राचीन आचार्य भामह तथा दण्डी ने रीति के दो मार्गों का निर्देश किया है। गद्यकाव्य के निर्माता बाण ने 'गौड़जनों' को शब्दाडम्बर के लिए कुख्यात बताकर रीति सम्प्रदाय के पूर्वाभास का संकेत किया है। इसलिये भामह से पहले बाण को रखकर कुछ विद्वानों ने रीति-सम्प्रदाय का आरंभ माना है।[३] किन्तु यह बात ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कट जाती है इसलिए कि बाण कवि भामह के बाद ठहरते हैं।

आचार्य वामन

रीति-सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। इन्होंने अपनी रचना 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में 'काव्य की आत्मा रीति है' यह स्पष्ट उल्लेख किया है—

---

१. द्र०—अनन्दवर्धन। सं०—रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा हिन्दी काव्यालंकार सूत्राणि, भूमिका, पृ० ७, चौ० प्र०।

२. दे०—वाचस्पति गैरोला-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९८०-चौ० वि० वाराणसी।

३. वही, एस० के० दे०, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग २, पृ० ९४।

रीतिरात्मा काव्यस्य—का० सू० १।२।६

फिर यह रीति क्या है? पदों की विशिष्ट रचना ही है—

विशिष्टपद-रचना रीतिः—का० सू० १।२।६

इसलिये रीति गुणों के ऊपर अवलंबित रहती है। इसलिए रीतिमत गुण सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है—

विशेषो गुणात्मा—वही, सू०—८

उक्त वाक्य-संदर्भ का निचोड़ यह है:—

गुण काव्य की आत्मा है, क्योंकि वही काव्य में उस सौन्दर्य को पैदा करता है, जिससे काव्य में उत्कृष्टता एवं ग्राह्यता आ जाती है।

यहाँ आत्मा शब्द एक लाक्षणिक रूप में प्रस्थापित हुआ है जिससे वाक्य का अर्थ यों निकलता है—

'काव्य की आत्मा सौन्दर्य है और वह उसमें गुण तत्त्व से प्रकट होता है। यही कारण है कि डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी आचार्य वामन को सौन्दर्य सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानते हैं, न कि रीति-सम्प्रदाय या गुण-सम्प्रदाय का।[1] श्री गैरोला, आचार्य वामन को रीति प्रवर्तक मानते हैं। पं० बलदेव उपाध्याय भी इन्हें रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक मानते हैं। जहाँ दण्डी ने गौड़ी और वैदर्भी के भेद को प्रतिपादित किया उसी में 'पाञ्चाली' एक भेद जोड़कर वामन ने अपना लक्षण इस प्रकार दिया—

सा त्रेधा वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली चेति ॥ ६ ॥

इस प्रकार रीति-सम्प्रदाय ने अलंकार और गुण का अलग-अलग स्पष्ट भेद दिखाकर अलंकार साहित्य का बड़ा ही उपकार किया है। आचार्य वामन के काव्य-चिन्तन में क्रान्तिकारी चिन्तन तथा रीतिसम्प्रदाय का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। यही हिन्दी काव्यों में आकर अपना एक 'रीतिकाल' ही निर्धारण कर लिया है जिसमें आचार्य केशव तथा चिन्तामणि केन्द्र-बिन्दु के रूप में हैं।

---

१. दे०—हिन्दी काव्यालंकारसूत्राणि—भूमिका, पृ० २७।

वामन की स्थिति

आचार्य वामन कश्मीर नरेश जयापीड के मन्त्री थे। यह कल्हण की राजतरंगिणी के निम्नोक्त श्लोक से विदित होता है। श्लोक इस प्रकार है :—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमाँस्तथा।
बभूवूः कवयः तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥ रा० ४।४८

इस आधार पर वामन की स्थिति आठवीं शताब्दी ठहरती है। पं० बलदेव उपाध्यायजी ने जयापीड़ का समय अष्टम शतक का अंतिम भाग माना है अतः वामन का भी यही समय है।[1] किन्तु उद्भट और वामन एक ही राजा जयापीड के आश्रित होकर भी एक दूसरे के विषय में कुछ नहीं बताते, यह ऐतिहासिक सन्दर्भ में कष्ट कर प्रतीत होता है। फिर भी 'काशिकावृत्ति' के रचयिता वामन से आलंकारिक वामन भिन्न थे। अपनी रचना के सन्दर्भ में वामन की समीक्षा तथा आलोचना दोनों ही अद्भुत हैं।

रचना

इनकी रचना का नाम है 'काव्यालंकारसूत्र'। इसमें अलंकारशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का विवेचन सूत्र रूप में किया गया है और इन सूत्रों पर वृत्ति भी स्वयं लिखी है। यह बात ग्रन्थ के मङ्गल श्लोक से स्पष्ट है। ग्रन्थ की शैली पर महर्षि वात्सायन के कामसूत्र का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। सम्पूर्णग्रन्थ में कुल पाँच अधिकरण हैं। प्रथम (शारीर) अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, रीति तथा वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियों का वर्णन है। द्वितीय (दोषदर्शन) अधिकरण में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष दर्शाये गए हैं। तृतीय (गुणविवेचन) में दश गुणों के शब्दगत तथा अर्थगत होने से बीस भेद प्रतिपादित हैं। चतुर्थ (आलंकारिक) में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के लक्षण और उदाहरण हैं। अंतिम अधिकरण में काव्यसमय तथा शब्दशुद्धि की चर्चा है। प्रस्तुत पुस्तक मात्र तृतीय अधिकरण पाठ्यपुस्तक में निर्धारित है अतः विशेष के लिए सम्पूर्ण पुस्तक पठनीय है। ग्रन्थ के परिशीलन से इनकी काव्य-प्रतिभा की परख सुन्दर ढंग से हो जाती है। इत्यलम्

माघी पूर्णिमा,
वि० सं० २०३९

कपिलदेव गिरि

---

1. दे—सं० सा० इतिहास, पृ० ५७९।

पण्डितवरवामनविरचितसवृत्ति-

काव्यालङ्कारसूत्राणि

सानुवाद'काव्यालङ्कारकामधेनु'व्याख्यासहितानि

तृतीयाधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

देव्याः कृतिषु दीव्यन्त्या वाचां वैचित्र्यकारिणीम् ।
चेतोहरचमत्कारां प्रस्तौमि गुणविस्तृतिम् ॥ १ ॥

अथ गुणविवेचनं तृतीयमधिकरणमारभ्यते—

यद्विपर्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् विचारयितुं गुणविवेचनमधिकरणमारभ्यते । तत्रौजःप्रसादादयो गुणा यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा इति स्थितिः काव्यविदाम् । तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥

ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजःप्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् । ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ॥ १ ॥

हिन्दी—जिनके विपर्यय स्वरूप दोष होते हैं उन गुणों का विचार करने के लिए गुणविवेचन नामक अधिकरण आरम्भ किया जाता है । उसमें ओज, प्रसाद आदि गुण और यमक, उपमा आदि अलङ्कार हैं, यह काव्यज्ञों का

सिद्धान्त है। उन (गुण और अलङ्कार) में क्या भेद का कारण है उसे निरूपित करने के लिए कहते हैं—

काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म गुण होते हैं ॥ १ ॥

उक्तवक्तव्यसङ्गतिमुल्लिङ्गयति—यद्विपर्ययात्मानो दोषा इति। निर्वृत्ते दोषनिरूपणे तत्प्रतिभटानां गुणानां निरूपणं लब्धावसरमिति सङ्गतिः। गुणा अलङ्कारेभ्यो विविच्यन्ते। ते च परस्परं विविच्यन्ते विभज्यन्तेऽस्मिन्निति गुणविवेचनं नामाधिकरणमारभ्यते। 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः' इति दण्डिमतं खण्डयितुं गुणालङ्कारभेदं दर्शयिष्यन् पीठिकां प्रतिष्ठापयति—तत्रेति। काव्यविदां कविकर्ममर्मविदाम् ओजः प्रसादादीनां गुणा इति यमकोपमादीनामलङ्कारा इति च विभिन्नव्यवहारविषयत्वं व्यवस्थितमित्यर्थः। उत्तरसूत्रं प्रश्नपूर्वकं प्रसञ्जयति। तेषामिति। तेषां गुणालङ्काराणां भेदस्य किं निबन्धनं कारणमिति प्रश्नः। व्याचष्टे–ये खल्विति। गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि उपचाराच्छब्दधर्मा इत्युक्तम्। एतच्च गुणोद्देशसूत्रे कुशलमुपपादयिष्यामः। गुणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमयोगाऽन्ययोगव्यवच्छेदाभ्यां परिच्छेत्तुं प्रक्रमते। ते चेति। अन्ययोगव्यच्छेदं तावदाख्याति—कैवल्येनेति। तेषामलङ्काराणां कैवल्येन गुणसाहचर्याभावेन काव्यशोभाकलनाक्षमत्वादित्यर्थः। आयोगं व्यवच्छिनत्ति। ओजः प्रसादादीनां त्विति। केवलानामसाहचर्याणामस्त्येवेति सम्बन्धः ॥ १ ॥

अलङ्कारपदप्रवृत्तिनिमित्तमावेदयितुमाह—

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः॥ २ ॥

तस्याः काव्यशोभाया अतिशयस्तदतिशयस्तस्य हेतवः। तुशब्दो व्यतिरेके। अलङ्काराश्च यमकोपमादयः। अत्र श्लोकौ—

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥ १ ॥

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥२॥

हिन्दी—शब्द एवम् अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं वे गुण हैं। वे (गुण) ओज, प्रसाद आदि हैं, यमक, उपमा आदि नहीं। क्योंकि केवल वे (यमक, उपमा आदि अलङ्कार) काव्य की शोभा को उत्पन्न नहीं कर सकते। किन्तु ओज, प्रसाद आदि गुण तो केवल भी अर्थात् अलङ्कारों के बिना भी, काव्य की शोभा को उत्पन्न कर सकते हैं।

उस काव्यशोभा के अतिशय के हेतु अलङ्कार हैं ॥ २ ॥

तदतिशयहेतव इति। जडबुद्धिषु जातानुग्रहो विग्रहमाह—तस्य इति। तुशब्द इति। व्यतिरेको भेदः। 'तुः स्याद्भेदेऽवधारणे' इत्यमरः। अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यामभियुक्तसंवादेन द्रढयति। अत्र श्लोकाविति। शुद्धा अलङ्काराऽसङ्कलिता गुणा ओजःप्रसादादयो लावण्यादयश्च यस्य तत्। गुणमात्रविशिष्टमपि काव्यं युवते रूपमिव स्वदते रोचते रसिकेभ्य इति। निरन्तराभिर्निबिडाभिः। अलङ्कारा यमकोपमादयः कटकादयश्च तेषां विकल्पा विच्छित्तयस्तेषां कल्पनाभी रचनाभिः। विहितप्रणयं रचितानुबन्धं सत् काव्यं युवते रूपमिवातीवातिमात्रं स्वदते। इत्यन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह यदीति। वचः काव्यात्मकं गुणेभ्यश्च्युतं यदि, तद्वचो, यौवनवन्ध्यं लावण्यशून्यमङ्गनाया वपुरिव भाति। तदा जनदयितान्यपि लोकप्रियाण्यपि, अलङ्करणानि, नियतमवश्यं, दुर्भगत्वं सौन्दर्यवैधुर्यादनादरणीयत्वं संश्रयन्ते इति श्लोकद्वयार्थः ॥ २ ॥

विरुद्धधर्माध्यासो भावं भिन्द्यादिति न्यायेन नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां गुणालङ्कारभेदः सिद्ध इति दर्शयितुमाह—

पूर्वे नित्याः ॥ ३ ॥

पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

हिन्दी—उस काव्यशोभा का अतिशय तदतिशय है, उसके हेतु अलङ्कार

हैं। तु शब्द का प्रयोग गुण और अलङ्कार के भेदप्रदर्शन के लिए हुआ है। यमक और उपमा आदि अलङ्कार हैं। इस प्रसङ्ग में दो श्लोक हैं—

शुद्धगुण युक्त वह काव्य युवती के अलङ्काररविहीन शुद्ध रूप के समान अत्यन्त रुचिकर होता है। अत्यन्त अलङ्कार-रचनाओं से विभूपितरूप अत्यानन्ददायक होता है।

यदि काव्य ओज, प्रसाद आदि गुणों से शून्य हो तो स्त्री के यौवन शून्य देह के समान वह सुन्दर नहीं होती और लोकप्रिय गहने भी शोभन नहीं होते ॥ २ ॥

हिन्दी—गुण और अलङ्कार इन दोनों में प्रथम नित्य हैं।

पूर्व अर्थात् गुण नित्य हैं, क्योंकि उनके विना काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती ॥ ३ ॥

पूर्वे नित्या इति। पूर्वे गुणा नित्या इत्युक्तेऽन्ये पुनरलङ्कारा अनित्या इति गम्यते एव। गुणानां नित्यत्वे हेतुस्तैर्विनेति। गुणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् काव्यशोभाया इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवमभेदमतं खण्डितम्। अथोक्तानुवादपूर्वकमुद्देशसूत्रमुदीरयति—

एवं गुणालङ्काराणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह—

ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्यो-दारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ॥ ४ ॥

बन्धः पदरचना, तस्य गुणा बन्धगुणाः ओजःप्रभृतयः ॥ ४ ॥

हिन्दी—इस तरह गुणों तथा अलङ्कारों के भेद दिखाकर शब्दगत गुणों के निरूपण करते हैं।

ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य; उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति (ये दश) बन्ध के गुण हैं।

बन्ध का अर्थ है पद रचना, उसके गुण ओज प्रभृति बन्धगुण हैं ॥ ४ ॥

एवमिति। वस्तुतो रीतिधर्मत्वेऽपि गुणानामात्मलाभस्य शब्दार्थाधीनत्वात् तस्य निरूप्यत्वाच्च शब्दार्थधर्मत्वमुपचारादुक्तम्। अथ शब्दनिष्ठा गुणा इदानीं मुख्यया वृत्त्या रीतिधर्मत्वमिति आत्मसिद्धान्त-

माविष्कुर्वन् सौत्रं पदं व्याकरोति—बन्धः पदरचना तस्य गुणा इति । न तु शब्दार्थयोरिति शेषः । एवञ्च सत्युपक्रमोपसंहारलिङ्गैराचार्यतात्पर्यपर्यालोचनायामात्मभूतरीतिनिष्ठा गुणास्तच्छरीरभूतशब्दार्थनिष्ठाः पुनरलङ्कारा इति निश्चीयते । अतो मन्यामहे गुणत्वादोजःप्रभृतीनामात्मनि समवायवृत्त्या स्थितिरलङ्कारत्वाद्यमकोपमादीनां शरीरे संयोगवृत्त्या स्थितिरिति ग्रन्थकारस्याभिमतमिति । न ह्यविपश्चिदपि कश्चिदभिजानीयादभिवदेद्वा न गुणानामात्मनि रीताविवालङ्काराणां शरीरभूते शब्दार्थयुगले समवायवृत्त्या स्थितिरिति । एवञ्च गुणाऽलङ्काराणामुभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरित्यभिमन्यमानैर्भेदाभिधानं गड्डरिकाप्रवाहनयेनेति यदुक्तं तन्निरस्तम् । किञ्च रीतिरात्मा काव्यस्येति शब्दार्थयुगलकाव्यशरीरस्य रीतिमात्मानमुपपाद्य, विशिष्टा पदरचना रीतिरिति रीतिं लक्षयित्वा, विशेषो गुणात्मेति गुणमात्रस्यैवात्मभूतरीतिनिष्ठत्वे प्रतिष्ठापिते यमकोपमादीनामलङ्काराणां तच्छरीरभूतशब्दार्थनिष्ठत्वमर्थात् समर्थितं भवति । अत एवोजःप्रसादादीनां गुणत्वं यमकोपमादीनामलङ्कारत्वमिति च व्यपदेशभेदोऽप्युपपद्यते । एवञ्च सति पूर्वे नित्या इति सूत्रे गुणानां नित्यत्वमलङ्काराणाम् अनित्यत्वमित्यादि सूत्रयता सूत्रकृता गुणानां काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वमुक्तं भवति । तथा च परमते व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये ध्वनिरुत्तमं काव्यं, गुणभावे गुणीभूतव्यङ्ग्यं मध्यमं काव्यं, सम्भावनामात्रे चित्रमपरं काव्यमिति काव्यभेदाः कथिताः । तथात्रापि गुणसामग्र्ये वैदर्भी, अविरोधगुणान्तरानिरोधेन ओजःकान्तिभूयिष्ठत्वे गौडीया, माधुर्यसौकुमार्यप्राचुर्ये पाञ्चालीति काव्यभेदाः कथ्यन्ते । रीतिध्वनिवादमतयोरियांस्तु भेदः । ध्वनिरात्मा काव्यस्य, स एवं तद्व्यवहारप्रयोजक इत्युभयत्राप्यात्मनिष्ठा गुणाः । शब्दार्थयुगलं शरीरं, तन्निष्ठा अलङ्कारा इति च सर्वमविशिष्टम् किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः ? उत कतिपयैः ? यदि समस्तैस्तत् कथमसमस्तगुणा गौडीया पाञ्चाली वा रीतिः काव्यस्यात्मा । अथ कतिपयैः 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः' इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः । 'स्वर्गप्राप्ति-

रनेनैव देहेन वरवर्णिनि। अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्' इत्यादौ गुणनैरपेक्ष्येण विशेषोक्तिव्यतितिरेकालङ्कारयोरेव काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वं च दृश्यत इति स्वसंकल्पमात्रकल्पितविकल्पानां नावश्यमवकाशं पश्यामः। अथापि यदि पाण्डित्यकण्डूलवैतण्डिकचण्डिम्ना चिखण्डयिषा परस्य तर्हि स्वमतं पृष्टः स्वयमेवाचष्टाम्। 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति काव्यसामान्यलक्षणे शब्दार्थयोर्गुणसाहित्यमिष्यते। किं गुणसमष्टिविशिष्टं काव्यं, तद्व्यष्टिविशिष्टं वा। नाद्यो निरवद्यः। एकैकगुणोदाहरणेषु काव्यत्वाभावप्रसङ्गात्। गुणसमष्टिवैशिष्ट्याभावान्न द्वितीयः। वस्त्वलङ्कारध्वनिषु गुणिनो रसस्याऽभावेन गुणस्यैवाभावात्। किञ्च, सर्वे रसाः संभूय काव्यात्मीभवन्ति ? उत करो रसः ? आद्ये न कुत्रापि काव्यात्मसम्भावना। विरोधिरसानामैकाधिकरण्यासम्भवात्। द्वितीये वस्त्वलङ्कारध्वनिषु रसासम्भवात्। आत्मविधुरेषु काव्यव्यवहाराभावप्रसङ्ग इत्यलं परमतदोषोद्घाटनपाटवप्रकटनेन। प्रकृतमनुसरामः ॥ ४ ॥

उद्देशक्रमादमीषां गुणानामसाधारणधर्मानाख्यातुमारभते।

तान् क्रमेण दर्शयितुमाह—

गाढबन्धत्वमोजः ॥ ५ ॥

बन्धस्य गाढत्वं यत् तदोजः।

यथा—'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति'।

न पुनः—'विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति' ॥ ५ ॥

हिन्दी—क्रम से उन दश गुणों को दिखलाने के लिए कहते हैं—

रचना का गाढत्व ओज गुण है।

बन्ध की जो गाढता है वह ओज़ गुण है। अर्थात् अक्षरविन्यास की पारस्परिक संश्लिष्टता से बन्ध की गाढता है।

मकरन्द को चंचल करते हुए भ्रमर मंजरियों को नचाते हैं।

परन्तु—मधुधारा को चंचल बनाते हुए भ्रमर मंजरियों को कपाते हैं।

इस श्लोक में ओजगुण नहीं है। मकरन्द की जगह 'मधु-धारा' तथा 'नर्तयन्ति' की जगह 'ल्होलयन्ति' करने से बन्धगाढता शिथित पड़ जाती है ॥ ५ ॥

तान् क्रमेणेति । बन्धस्य पदरचनाया गाढत्वं कनकशलाकावयवघटनवन्निबिडत्वम् । तत्र हेतवः—संयुक्ताक्षरत्वं, निरन्तररेफशिरस्कैर्वर्गाणां प्रथमद्वितीयैस्तृतीयचतुर्थैः प्रथमैस्तृतीयैश्च संयोगा विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया गुर्वन्तता समासाश्चेत्येवमादयस्तरतमभावेनावस्थिताः। तत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणे दर्शयति—यथेति । उभयत्र गाढत्वशैथिल्ये स्फुटे ॥ ५ ॥

शैथिल्यं प्रसादः ॥ ६ ॥

वन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः ॥ ६ ॥

हिन्दी—शैथिल्य का नाम प्रसाद है।

अर्थात् रचना का शैथिल्य या शिथिलत्व ही प्रसाद है ॥ ६ ॥

शैथिल्यमिति । अस्य वृत्तिः स्पष्टार्था ॥ ६ ॥

शिथिलत्वमोजोगुणविपर्ययरूपम् । तदात्मकत्वे प्रसादस्य दोषत्वमेव स्यादिति परशङ्कां पुरस्कृत्य तां पराकर्तुमुत्तरसूत्रमवतारयति—

नन्वयमोजोविपर्ययात्मा दोषः, तत् कथं गुण इत्याह—

गुणः संप्लवात् ॥ ७ ॥

गुणः प्रसादः । ओजसा सह संप्लवाद् ॥ ७ ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि ओज गुण का विपर्यय तो दोष होगा। तव यह गुण कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं—

प्रसाद गुण है, मिश्रित होने से।

अर्थात् प्रासद गुण है, ओज के साथ मिश्रित होने के कारण ॥ ७ ॥

नन्विति । संप्लवो मेलनम् । प्रसादो गुणो भवत्येव । ओजसा सह गुणेन संप्लवात् ॥ ७ ॥

न शुद्धः ॥ ८ ॥

शुद्धस्तु दोष एवेति ॥ ८ ॥

हिन्दी—शुद्ध तो गुण नहीं है।

अर्थात् शुद्ध प्रसाद तो दोष ही है ॥ ८ ॥

तदमिश्रं तु शैथिल्यं दोष एवेत्याह। शुद्धस्त्विति ॥ ८ ॥

ननु गाढत्वशैथिल्ययोस्तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः संप्लव एव न सम्भवतीति शङ्कामनूद्यानन्तरसूत्रेणापवदितुमाह।

ननु विरुद्धयोरोजःप्रसादयोः कथं संप्लव इत्याह—

स त्वनुभवसिद्धः ॥ ९ ॥

स तु संप्लवस्त्वनुभवसिद्धः। तद्विदां रत्नादिविशेषवत्। अत्र श्लोकः—

करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः ॥ ९ ॥

हिन्दी—एक जगह परस्पर विरोधी ओज और प्रसाद का मिश्रण कैसे हो सकता है? उत्तर देते हैं—

वह तो अनुभव से सिद्ध है।

वह सम्प्लव (मिश्रण) तो उसको समझने वालों के लिए उसी तरह अनुभवसिद्ध है जिस प्रकार रत्नों की विशेषता का ज्ञान जौहरियों के लिए अनुभवसिद्ध है। इस प्रसङ्ग में एक श्लोक है—

करुण-रस-प्रधान नाटकों में परस्पर विरोधी सुख और दुःख का मिश्रण जैसे अनुभव से सिद्ध है उसी प्रकार परस्पर विरोधी ओज और प्रसाद का मिश्रण भी अनुभवसिद्ध है ॥ ९ ॥

नन्विति। व्याचष्टे स तु संप्लव इति। रत्नविशेषवत्। परीक्षानुभवसाक्षिक इत्यर्थः। विरुद्धयोरपि क्वचित् संप्लवः सम्भवतीत्यभियुक्तोक्तिमभिदर्शयति करुणेति। यानि करुणानि कारुण्यावहानि यानि मनोज्ञानि च वस्तूनि तेषु युगपदनुभूयमानेषु समसमयसमुत्पन्नयोः सुख-

दुःखयोः संप्लवो यथाऽनुभवतः स्वसंवेदनात् सिद्धस्तथौजःप्रसादयोरपि संप्लवः स्वसंवित्संवेद्यतया सिद्ध इति श्लोकार्थः ॥ ९ ॥

अत्रोजःप्रसादयोः साम्ये पर्यायतः प्रकर्षे च त्रिप्रकारो भवति । ते च प्रकारा अनुभवगम्या इति दर्शयितुमाह—

साम्योत्कर्षौ च ॥ १० ॥

साम्यमुत्कर्षश्चौजःप्रसादयोरेव । साम्यं यथा—'अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे नृपतिककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्' । क्वचिदोजः प्रसादादुत्कृष्टम् । यथा—'व्रजति गगनं भल्लातक्याः फलेन सहोपमाम्' । क्वचिदोजसः प्रसादस्योत्कर्षः । यथा—'कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः' ॥ १० ॥

हिन्दी—(ओज और प्रसाद का मिश्रण ही नहीं उनका) साम्य तथा उत्कर्ष भी अनुभवसिद्ध है ।

ओज और प्रसाद के ही साम्य और उत्कर्ष भी सहृदयों के अनुभवसिद्ध हैं । साम्य का उदाहरण जैसे—

उसके बाद वह विषयों से विरक्त राजा दिलीप राज-चिह्न रूप श्वेतच्छत्र अपने युवक पुत्र को देकर (वन में चला गया) ।

कहीं-कहीं ओज प्रसाद से उत्कृष्ट होता है । जैसे—

आकाश भल्लातकी के फल सादृश्य को प्राप्त होता है ।

कहीं-कहीं ओज से प्रसाद का उत्कर्ष अधिक होता है । जैसे न नूतन पुष्प शय्या, न ज्योत्स्ना, न चन्दन का सर्वाङ्ग लेप और न मणियों के हारें ही वियोगियों के लिए सुखद हैं ॥ १० ॥

साम्योत्कर्षौ चेति । क्रमेण त्रिविधं प्रसादमुदाहृत्य दर्शयति साम्यं यथेति । विषयव्यावृत्तात्मेत्यादावोजः, यथाविधि सूनव इत्यादौ प्रसादः । भिन्नदेशयोरप्योजःप्रसादयोः परस्परच्छायाऽनुकारितया सम्प्लवः । उभयोरत्र साम्यं वेदितव्यम् । ओजसः प्रसादादुत्कर्षमुदाहरति व्रजतीति ।

भल्लातकी नाम वीरवृक्षः। 'वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखी भल्लातकी त्रिषु' इत्यमरः। कुसमशयनमित्यत्र प्रसादस्योत्कर्षो द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

श्लेषं विशदयितुमाह—

मसृणत्वं श्लेषः ॥ ११ ॥

मसृणत्वं नाम यस्मिन् सन्ति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते। यथा—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'। न पुनः—'सूत्रं ब्राह्ममुरःस्थले। भ्रमरीवल्गुगीतयः। तडित्कलिलमाकाशम्' इति। एवं तु श्लेषो भवति 'ब्राह्मं सूत्रमुरःस्थले। भ्रमरीमञ्जुगीतयः। तडिज्जटिलमाकाशम्' इति॥११॥

हिन्दी—मसृणत्व (शब्दनिष्ठ चिक्कणता) श्लेष है।

मसृणत्व उसे कहते हैं जिसके होने पर बहुत से पद एक पद के समान प्रतीत होते हैं। जैसे—

उत्तर दिशा में देवतास्वरूप हिमालय नाम का नगाधिराज है।

यहाँ 'अस्ति उत्तरस्यां दिशि' आदि पद भिन्न हैं किन्तु पढ़ने के समय 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' उच्चरित होने से वे तीनों पद एक के समान प्रतीत होते हैं।

किन्तु निम्न शब्द-समुदाय में यह मसृणत्व नहीं है—वक्षःस्थल पर यज्ञोपवीत। भ्रमरियों का मधुर गान। विजली से देदीप्यमान आकाश। (इन तीनों उदाहरणों में एकपदवद्भासनात्मक मसृणत्व नहीं रहने से श्लेष नहीं है।) परन्तु थोड़ा पाठ-परिवर्त्तन कर 'ब्राह्मं सूत्रमुरःस्थले, भ्रमरीमञ्जुगीतयः, तडिज्जटिलमाकाशम्' ऐसा करने पर तो श्लेष हो जाता है॥ ११॥

मसृणत्वं श्लेष इति। मसृणत्वं विशिष्य दर्शयति यस्मिन्निति। यत्र हि व्यासेऽपि समासवदवभासः स श्लेषः। अस्त्युत्तरस्यामिति सामान्येनोदाहरणमुक्त्वा श्लेषस्य व्यतिरेकमुखेनान्वयमाविष्करोति न पुनरिति। सूत्रं ब्राह्ममुरःस्थले, भ्रमरीवल्गुगीतयः, तडित्कलिलमाकाशम् इत्यत्र श्लेषः पुनर्नास्तीति सम्बन्धः। सूत्रं ब्राह्ममित्यत्र परसवर्णेऽपि

परुषाक्षरोत्थानान्न श्लेषः। तर्हि कीदृशि विन्यासे श्लेषो भवतीत्यत आह—एवं त्विति। अस्य गुणस्य विपर्ययो विसन्धेर्वाक्यदोषस्य विश्लेषात्मा भेदः ॥ ११ ॥

समतां समाख्यातुमाह—

मार्गाभेदः समता ॥ १२ ॥

मार्गस्याभेदो मार्गाभेदः समता। येन मार्गेणोपक्रमस्तस्याऽत्याग इत्यर्थः। श्लोके प्रबन्धे चेति पूर्वोक्तमुदाहरणम्। विपर्ययस्तु यथा—प्रसीद चण्डि! त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवाऽयं पुरतः कृताञ्जलिः। किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ॥ १२ ॥

हिन्दी—(आदि से अन्त तक) रचना-शैली का अभेद समता है।

मार्ग अर्थात् रचना-शैली का अभेद ही मार्गाभेद है और उसे ही समता कहते हैं। जिस मार्ग से रचना का आरम्भ किया जाए, उसका अन्त तक परित्याग न करना ही समता का अर्थ है। (यह एक शैली का अन्त तक अनुसरण) श्लोक तथा प्रबन्ध काव्य, दोनों में अपेक्षित है। पूर्वोक्त (अस्त्युत्तरस्यां दिशि) उदाहरण है। प्रत्युदाहरण जैसे—

हे चण्डि! प्रसन्न हो जाओ, तुम्हारा यह सेवक हाथ जोड़ सामने खड़ा है। क्रोध छोड़ दो। हिलते हुए बड़े-बड़े स्तनों के साथ तुम सौन्दर्य तथा विलास से रहित होकर क्यों बैठी हो?

(यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में कर्तृवाच्य तथा उत्तरार्द्ध में भाववाच्य के प्रयोग के कारण रचना-शैली में भेद हो जाने से समता गुण नहीं है।) ॥ १२ ॥

मार्गाभेद इति। आदिमध्यावसानेष्वैकरूप्यं समतेत्यर्थः। तस्या विषयं दर्शयति श्लोके प्रबन्धे चेति। किमत्रोदाहरणमिति चेदाह पूर्वोक्तमिति। अस्त्युत्तरस्यामित्यादि। प्रत्युदाहरणमाह—विपर्ययस्त्विति। प्रसीद त्यजेति कर्तृवाचितया प्रक्रान्तस्य मार्गस्यास्यत इत्यत्र त्यागान्न समता ॥ १२ ॥

पञ्चमगुणं प्रपञ्चयितुमाह—

आरोहावरोहक्रमः समाधिः ॥ १३ ॥

आरोहावरोहयोः क्रम आरोहावरोहक्रमः समाधिः परिहारः। आरोहस्यावरोहे सति परिहारः, अवरोहस्य वाऽऽरोहे सतीति। तत्रारोहपूर्वकोऽवरोहो यथा—'निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे'। अवरोहपूर्वस्त्वारोहो यथा—'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः'। आरोहस्य क्रमोऽवरोहस्य च क्रम आरोहावरोहक्रमः। क्रमेणारोहणमवरोहणं चेति केचित्। यथा-'निवेशः स्वःसिन्धोस्तुहिनगिरिवीथीषु जयति' ॥ १३ ॥

हिन्दी—आरोह और अवरोह (अर्थात् चढ़ाव और उतार) को समाधि (गुण) कहते हैं।

अरोह और अवरोह का क्रम ही आरोहावरोहक्रम है। समाधि परिहार ही है। आरोह का अवरोह होने पर अथवा अवरोह का आरोह होने पर परिहार रूप समाधि गुण होता है। आरोह के बाद आवरोह, जैसे—

रसास्वादन के वाद परित्यक्त कुन्दपुष्प के मधु में आनन्द का अनुभव नहीं करनेवाला।

(दीर्घ तथा गुरु स्वर-समुदाय आरोह है तथा लघु स्वरसमुदाय अवरोह है। उपर्युक्त उदाहरण गत 'कौन्दे' में आरोह है और लघुस्वरयुक्त 'मधूनि' में अवरोह है। इस तरह यहाँ आरोह का अवरोह होने से समाधि गुण हुआ।)

अवरोह के बाद आरोह, जैसे—

शीलभ्रष्ट पुरुषों के व्यसन में डूबने के समान वृक्ष जल में डूब रहे हैं। (यहाँ 'नराः' में लघु स्वरादि होने के कारण अवरोह है और उसके बाद 'शीलभ्रष्टा' में दीर्घ एवं गुरु स्वरों के प्रयोग के कारण आरोह है। अतः यहाँ अवरोहपूर्वक आरोह है।)

आरोह का क्रम तथा अवरोह का क्रम, इस तरह समास करने पर

'आरोहावरोहक्रम' हुआ। क्रमशः आरोह तथा अवरोह हो, यह भी कुछ लोग कहते हैं। जैसे—

हिमालय के मार्गों में गंगा का प्रवाह सुशोभित हो रहा है ॥ १३ ॥

आरोहवारोहक्रम इति। अत्र स्वाभिमतं तावदेकमर्थं लक्षणवाक्यस्य समर्थयते समाधिः परिहार इति। अवरोहे प्रवर्तमाने सत्यारोहस्य प्रवृत्तस्य परिहारः परित्यागः। आरोहे च सत्यवरोहस्य परिहारः आरोहावरोहयोर्विरुद्धत्वेन यौगपद्यासम्भवादिति भावः। दीर्घादिगुर्वक्षरप्राचुर्ये, आरोहः। लघ्वादिशिथिलप्रायत्वे चावरोह इति द्रष्टव्यम्। तथा चारोहपूर्वकोऽवरोहः, क्वचिदवरोहपूर्वक आरोह इति समाधेर्द्वैविध्यमुक्तं भवति। तत्राद्यमुदाहरति। आरोहपूर्वक इति। निरानन्दः कौन्द इत्यत्र गुर्वक्षरबाहुल्यादारोहः। मधुनीत्यत्र लघ्वक्षरप्राचुर्यादवरोहः। द्वितीयमुदाहरति—अवरोहपूर्वक इति। नरा इत्यत्र शैथिल्यादवरोहः। शीलभ्रष्टा इत्यत्र गुर्वक्षरप्रचुरत्वादारोहः। अस्यैव लक्षणवाक्यस्यान्यैरभिहितमर्थमभ्यनुजिज्ञासुरनुवदति आरोहस्य क्रम इति। निःश्रेणिकारोहावरोहन्यायेन क्रमेणारोहणं, क्रमेण चावरोहणमिति लक्षणवाक्यार्थः। उदाहरति निवेश इति। निवेशः स्वःसिन्धोरित्यत्र निःश्रेणिकाक्रमेणारोहः। तुहिनगिरीत्यत्रावरोहः ॥ १३ ॥

ननु लक्षणवाक्यार्थपर्यालोचनया समाधेरोजःप्रसादानतिरेकान्न पृथक्त्वमिति शङ्कामङ्कुरयितुमुत्तरसूत्रमुपक्षिपति—

न पृथगारोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात् ॥ १४ ॥

न पृथक्समाधिर्गुणः। आरोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात्। ओजोरूपश्चारोहः प्रसादरूपश्चावरोह इति ॥ १४ ॥

हिन्दी—आरोह और अवरोह के क्रमशः ओज और प्रसाद स्वरूप होने के कारण समाधि (कोई) पृथक् गुण नहीं है।

समाधि (कोई) पृथक् गुण नहीं है क्योंकि समाधि के आधारभूत आरोह और अवरोह क्रमशः ओजः स्वरूप और प्रसादस्वरूप हैं। ओजोरूप आरोह तथा प्रसादरूप अवरोह हैं। (इस तरह समाधि पृथक् गुण नहीं है) ॥१४॥

न पृथगिति । व्याचष्टे । न पृथक् समाधिरिति ॥ १४ ॥

आरोहावरोहावोजःप्रसादरूपौ न भवतः । असम्पृक्तत्वात् । अतः परस्परच्छायानुकारितया सम्पृक्तयोरोजःप्रसादयोर्न समाधिरन्तर्भवतीत्यभिसन्धाय सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—

न संपृक्तत्वात् ॥ १५ ॥

यदुक्तमोजःप्रसादरूपत्वमारोहावरोहयोस्तन्न । संपृक्तत्वात् । संपृक्तौ खल्वोजःप्रसादौ नदीवेणिकावद् वहतः ॥ १५ ॥

हिन्दी—(इस पूर्व पक्ष के खण्डन में कहा गया है) नहीं, (समाधि गुण में ओज तथा प्रसाद के) सम्मिश्रण से ।

यह जो कहा गया है कि आरोह और अवरोह का क्रमशः ओजरूपत्व और प्रसादरूपत्व है (और इन दोनों से युक्त समाधि कोई पृथक् गुण नहीं है) सो ठीक नहीं है क्योंकि समाधि में उक्त दोनों गुणों का सम्मिश्रण होता है । नदी की सहप्रवहिणी दो धाराओं के समान ओज और प्रसाद दोनों समाधि गुण मिश्रित रूप में रहते हैं ॥ १५ ॥

यदुक्तमिति । संपृक्तत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति—संपृक्तौ खल्विति । संपृक्तसरिद्द्वयसलिलन्यायेन संपृक्तावोजःप्रसादाविति । तद्विलक्षणयोरारोहावरोहयोः संपृक्तत्वव्यतिरेकादसंपृक्तत्वहेतोरसिद्धिरुद्धृता ॥

ननु, न केवलं नदीद्वयवेणिकान्यायेनौजःप्रसादयोः साम्येनाऽवस्थितिः, किन्तु साम्योत्कर्षौ चेत्युक्तत्वात् समुद्गकस्थमणिप्रभासमूहन्यायादुच्चावचभावेन स्थितिः । तस्मिन् पक्षे कथमयं समाधिः पृथग्गुण इति शङ्कामपनेतुमाह—

अनैकान्त्याच्च ॥ १६ ॥

न चायमेकान्तः । यदोजस्यारोहः प्रसादे चावरोहः ॥१६॥

हिन्दी—ओज में आरोह और प्रसाद में अवरोह का होना ऐकान्तिक सत्य नहीं है । आरोह और अवरोह के अभाव में भी क्रमशः ओज और प्रसाद गुण पाए जाते हैं । इस तरह आरोह और अवरोह में क्रमशः ओज और

प्रसाद के अनैकान्तिक होने के कारण आरोहावरोहक्रम रूप समाधि का पृथक् अस्तित्व न्यायसंगत है। इसी के समर्थन में कहा गया है—

अनैकान्तिक होने से भी।

ओज और प्रसाद में क्रमशः आरोह और अवरोह का होना ऐकान्तिक नहीं है॥ १६॥

अनैकान्त्याच्चेति। ओजःप्रसादयोरारोहावरोहसाहचर्यनियमो न सम्भवति। व्यभिचारात्। व्यभिचारस्तु 'उद्गच्छदच्छमुमगच्छविगुच्छकच्छम्' इत्यादौ। 'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते' इत्यादौ च, आरोहशून्यस्यौजसः, अवरोहशून्यस्य प्रसादस्य च स्थितत्वादित्यभिप्रायः॥ १६॥

नन्वारोहावरोहावोजःप्रसादयोरवस्थाविशेषौ स्यातामतो न पृथक् समाधिरिति यदि चोद्यते, तर्हि समाधेर्दत्तो हस्तावलम्ब इति दर्शयितुमनन्तरसूत्रमवतारयति—

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायां
ताविति चेदभ्युपगमः॥ १७॥

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भागे तीव्रावस्थायामारोहोऽवरोहश्चेत्येवं चेन्मन्यसे, अभ्युपगमः—न विप्रतिपत्तिः॥ १७॥

हिन्दी—ओज और प्रसाद के किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर क्रमशः आरोह और अवरोह होते हैं, सर्वत्र ओज और प्रसाद मात्र में नहीं। इस तरह समाधि का पृथक् अस्तित्व स्वीकार है।

ओज और प्रसाद में किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर क्रमशः आरोह और अवरोह होता है। यदि ऐसा कहा जाए तो समाधि का पृथक् अस्तित्व स्वीकार है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है॥ १७॥

ओजःप्रसादयोः क्वचिद्भाग इति। शङ्कां सङ्कलय्य दर्शयति। ओजःप्रसादयोरिति॥ १७॥

परोक्तस्याभ्युपगमे पर्यवसितमर्थं समर्थयितुमाह—

विशेषापेक्षित्वात्तयोः॥ १८॥

स विशेषो गुणान्तरात्मा ॥ १८ ॥

हिन्दी—ओज तथा प्रसाद गुणों में उन दोनों आरोह और अवरोह की नियत स्थिति को विशेष कारण या निमित्त की अपेक्षा होने से।

वह विशेष कारण गुणस्वरूप ही है ॥ १८ ॥

विशेषेति। विशेषस्तीव्रावस्थात्मा। तमपेक्षितुं शीलमनयोरिति विशेषापेक्षिणौ तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात्। आरोहावरोहाभ्यामोजःप्रसादयोस्तीव्रावस्था हि स्वनिमित्तत्वेनापेक्षिता। सोऽयमोजःप्रसादव्यतिरेकेण समाधिरन्यो गुण इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

नन्वमुमर्थमभिधातुं समाधिलक्षणवाक्यं न क्षमत इत्याशङ्क्य गौणवृत्तिराश्रयणीयेत्याह—

आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते ॥ १९ ॥

आरोहावरोहक्रमः समाधिरिति गौण्या वृत्त्या व्याख्येयम् ॥१९॥

हिन्दी—आरोह और अवरोह का निमित्त ही समाधि नामक गुण कहा जाता है।

अरोह और अवरोह का क्रम समाधि है इस लक्षणगत क्रम शब्द की व्याख्या गौणी वृत्ति (लक्षणा) से निमित्तार्थ परक मानकर करनी चाहिए ॥ १९ ॥

आरोहावरोहेति। क्रमपदेन तन्निमित्तं लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु पुनरवस्थाऽवस्थावतो यदा न भिद्यते तदा तीव्रावस्था ओजःप्रसादात्मिकैव भवति। यद्यपि, यद् यदोजस्तत्तदारोह इति नास्ति नियमः, तथापि यो य आरोहस्तत्तदोज इति भवति। ततः सत्यं न समाधिना प्रसादः स्वीक्रियते, प्रसादेन च समाधिः संगृह्यत एवेति किमर्थमस्योपादानमित्यत आह—

क्रमविधानार्थत्वाद्वा ॥ २० ॥

पृथक्करणमिति। पाठधर्मत्वं च न सम्भवतीति 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ २० ॥

हिन्दी—अथवा आरोह और अवरोह में क्रम विधान के लिए समाधि एक पृथक् गुण माना जाता है ।

आरोह और अवरोह के स्थलों में धीरे-धीरे (क्रम से) आरोहण और अवरोहण के उद्‌बोध होने के कारण ओज तथा प्रसाद से समाधि को पृथक् किया गया है ।

आरोह और अवरोह का क्रमिक उद्‌बोधन पाठ का धर्म है यह काव्य गुण नहीं हो सकता, इस पूर्व पक्ष के खण्डन में वृत्तिकार 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' सूत्र में कहेंगे ॥ २० ॥

क्रमविधानेति । नात्र क्रमः परस्परम् । अपि तु क्रमेणारोहणं क्रमेणाऽवरोहणमित्येवरूपः क्रमो ज्ञेयः । नन्वारोहावरोहक्रमः पाठधर्मः किन्न स्यादिति चोद्यं, वक्ष्यमाणयुक्त्या विघटितमित्याह । पाठधर्मत्वं चेति ॥ २० ॥

माधुर्यमवधारयितुमाह—

पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ॥ २१ ॥

बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत् तन्माधुर्यम् पृथक्पदानि यस्य स पृथक्पदः । तस्य भावः पृथक्पदत्वम् । समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—'चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्गचण्डध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः' ॥ २१ ॥

हिन्दी—रचनागत पदों की पृथक्ता को माधुर्य गुण कहते हैं ।

रचनागत पदों की जो पारस्परिक पृथक्ता है वही माधुर्य है । जिसके पद पृथक् पृथक् हैं वह पृथक्पद हुआ और उसका भाव पृथक्पदत्व हुआ । यह गुण दीर्घ समासयुक्त रचना का निषेधक है । पूर्वोक्त रचना अर्थात् 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' इत्यादि इसके उदाहरण हैं । विपरित उदाहरण यथा—

चलती हुई शबरसेना द्वारा बजाए गए गोशृङ्ग नामक वाद्य विशेष की तीव्र ध्वनि से चकित बराहों से व्याकुल विन्ध्याचल की खाड़ियाँ हैं ॥ २१ ॥

पृथक्पदत्वमिति । सूत्रार्थं विविङ्क्त । बन्धस्येति । अव्याप्ति परिहरति समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरमिति । पूर्वोक्तमिति । अस्त्युत्तरस्यामित्याद्युदाहरणम् । प्रत्युदाहरणमाह विपर्ययस्त्विति । समासपददैर्घ्याद्विपर्ययः । दत्तं घृतम् ॥ २१ ॥

सौकुमार्यं पर्यालोचयितुमाह—

अजरठत्वं सौकुमार्यम् ॥ २२ ॥

बन्धस्याजरठत्वमपारुष्यं यत् यत् सौकुमार्यम् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

'निदानं निर्द्वैतं प्रियजनसदृक्त्वव्यवसितिः ।
सुधासेकप्लोषौ फलमपि विरुद्धं मम हृदि' ॥ २२ ॥

हिन्दी—रचनागत अकठोरता सौकुमार्य गुण है ।

रचना की जो अकठोरता अर्थात् पारुष्यहीनता है वही सौकुमार्य है। पूर्वोक्त रचना अर्थात् 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि पद्य इसका उदाहरण है। विपरीत उदाहरण यथा—

प्रिय जन के सदृश रूप ही स्मृति और वियोग के उद्दीपन के कारण हैं। स्मृति से ही सुधा-सिञ्चन तथा वियोग से ही दाह ये दो तरह के फल मेरे हृदय में उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

अजरठत्वं सौकुमार्जमिति । बन्धस्याजरठत्वं कोमलत्वं श्रुतिसुखत्वमिति यावत् । पूर्वोक्तमिति । अस्त्युत्तरस्यामित्याद्युदाहरणम् । प्रत्युदाहरणमाह—विपर्ययस्त्विति । सौकुमार्यस्य पिपर्ययः कष्टत्वभिन्नवृत्तत्वे । निर्द्वैतं संशयाभावः । अत्र निर्द्वैतमिति कष्टम् ॥ २२ ॥

उदारतामुदीरयितुमाह—

विकटत्वमुदारता ॥ २३ ॥

बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः । यथा—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलं च ।

नपुनः—

चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झटिति रणितमासीन्मञ्जुचित्रं च तत्र ॥ २३ ॥

हिन्दी—रचना की विकटता उदारता है ।

रचना की जो विकटता है वह उदारता है । जिसके होने पर लोगों की भावना होती है कि रचनागत पद नाच से रहे हैं वह विकटत्व है । वर्णों का नृत्य अर्थात् लीलायमानत्व ही विकटत्व का अर्थ है । जैसे—

वहाँ नर्तकियों के अपने पैरों में पहने हुए नूपुरो से विचित्र और सुन्दर आवाज निकलने लगी ।

कुछ पदों का परिवर्त्तन होने पर पुनः इसी श्लोक में वह उदारता गुण नहीं है—

नर्तकियों के चरणकमलों में नूपुरों से वहाँ विचित्र और सुन्दर आवाज हुई ॥ २३ ॥

विकटत्वमिति । क्रमशो वर्धमानाक्षरपदत्वम् । पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तरप्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यं च । उदाहरणप्रत्युदाहरणे दर्शयति—यथेति ॥ २३ ॥

अर्थव्यक्तिं समर्थयितुमाह—

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ॥ २४ ॥

यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति पूर्वोक्तमुदाहरणम् । प्रत्युदाहरणं तु भूयः सुलभं च ॥ २४ ॥

हिन्दी—अर्थ की स्पष्ट प्रतीति का हेतु अर्थ व्यक्ति गुण है ।

जहाँ अर्थ की शीघ्र प्रतीति का हेतुत्व है वह अर्थव्यक्ति गुण है । पूर्वोक्त श्लोक (अर्थात् अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा) इसका उदाहरण है । प्रत्युदाहरण तो वहुत है और सुलभ भी हैं ॥ २४ ॥

अर्थव्यक्तीति । वृत्तिः स्पष्टार्था । पूर्वोक्तमस्त्युत्तरस्यामिति । सुलभं चेति । सपदि पङ्क्तिविहङ्गानामेत्यादि । अव्यवहितान्वयप्रसिद्धार्थपदत्वे हि भवत्यर्थव्यक्तिः । अस्य च विपर्ययः—असाध्वप्रतीतानर्थकान्यार्थनेयार्थगूढार्थयतिभ्रष्टक्लिष्टसन्दिग्धाऽप्रयुक्तानि । असाधुत्वे भवति नार्थव्यक्तिः । यत्र च भवति तत्र 'असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते' इत्युक्तत्वादसाधुशब्दः साधुशब्दानुमानद्वारेणार्थबोधक इति नार्थव्यक्तिः । पूरणार्थमव्ययं च, कस्मादस्य प्रयोग इति सन्देहावहत्वादर्थव्यक्ति व्यवदधाति । यतिभ्रंशे चाऽर्थव्यक्तिहतिः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

कान्ति कथयितुमाह—

औज्ज्वल्यं कान्तिः ॥ २५ ॥

बन्धस्योज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति । यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते । यथा—'कुरङ्गीनेत्रालीस्तबकितवनालीपरिसरः' विपर्ययस्तु भूयान् सुलभश्च ।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दा श्रोत्ररसायनम् ॥
श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥
यत्रैकपदवद्भावं पदानां भूयसामपि ।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥
प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥

आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् ।
समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥
वन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं बुधैः ।
अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुच्यताः ॥
यथा हि च्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥
बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ।
एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः ॥
विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् ।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यया शून्याः पदक्रमाः ॥
पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः ।
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात् साऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥
औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ॥ २५ ॥

हिन्दी—रचना की उज्ज्वलता अर्थात् नूतनता कान्ति गुण है।

रचना की जो उज्ज्वलता है वही कान्ति गुण है। जिसके अभाव में 'यह प्राचीन रचना की छाया है' यह कहा जाताहै। कान्ति गुण का उदाहरण, जैसे—

हरिणियों की नेत्रपंक्तियों से वनपंक्ति का किनारा पुष्पगुच्छों से युक्त प्रतीत हो रहा है। यहाँ कवि की कल्पना सर्वथा नूतनतापूर्ण है विपरीत उदाहरण तो बहुत और सुलभ हैं। यहाँ शब्द-गुणों के स्वरूप-निरूपण के प्रसङ्ग में ११ श्लोक है—

पद रचना के गाढत्व को कवीश्वर लोग ओज गुण कहते हैं। इससे युक्त पद प्रायः कानों के लिए रसायन के समान स्फूर्तिदायक होते हैं।

ओज से मिश्रित रचना-शैथिल्य को प्रसाद गुण कहते हैं। इसके विना काव्य रचना का वास्तविक स्वाद ही नहीं मिलता।

जहाँ सन्धि के अलक्षित होने पर भी बहुत पदों में एक पद के समान प्रतीत हो वह श्लेष नामक उत्कृष्ट गुण है

प्रत्येक पाद एवं प्रत्येक श्लोक में एक रचना-शैली का होना, जो दुर्बन्ध एवं दुर्विज्ञेय है, समता गुण माना गया है।

श्लोक के पादों की यतियाँ जहाँ क्रमशः चढ़ती और उतरती हैं वह समाधि नामक गुण है और उससे कविता पवित्र होती है।

रचना में पृथक्पदत्व को विद्वानों के द्वारा माधुर्य गुण कहा गया है। इससे पदरचनाएँ मधु-धारा की अत्यन्त वृष्टि करने वाली होती हैं।

जिस तरह चित्रकारिता के पण्डितों द्वारा चतुरतापूर्वक रेखा खींची जाती है ठीक उसी तरह विद्वान् कवियों द्वारा समस्त गुणों से युक्त कविता की रचना की जाती है।

रचना के अपारुष्य को सौकुमार्य गुण कहा गया है। इससे रहित रचनाएँ कठोर होने के कारण सुनने योग्य नहीं होती हैं।

रचना के विकटत्व को ही उदारता गुण कहते हैं, जिसके अभाव में पदरचनाएँ वैचित्र्य अर्थात् सौन्दर्य को नहीं प्राप्त करती हैं।

जहाँ पदों की गति मानो पश्चात् हो और अर्थ की प्रतीति मानो पूर्व ही हो जाय उसे अर्थ की शीघ्र एवं स्पष्ट प्रतीति का हेतु होने के अर्थव्यक्ति गुण कहा गया है।

गुणज्ञ विद्वानों ने रचना की उज्ज्वलता अर्थात् नवीनता को कान्ति गुण कहा है। उसके विना कवि की वाणी प्राचीन चित्र के समान प्रतीत होती है ॥ २५ ॥

औज्ज्वल्यमिति । पत्रमिति वक्तव्ये किसलयमित्यादि । जलधाविति वक्तव्येऽधिजलधीति । राज्ञीति वक्तव्ये राजनीति । कमलमिवेति वक्तव्ये कमलायत इत्यादिः कान्तिहेतुः । विपर्ययस्य विषयं दर्शयति—यदभाव इति । अत्र संवादं संदर्शयन्नमून् गुणान् अन्यश्लोकैरुपश्लोयति । पदन्यासस्येत्यादि । श्लोकाः स्पष्टार्थाः ॥ २५ ॥

नन्वेते गुणाः स्वसंकल्पनामात्रसारा रूपरसादिवदपरोक्षतयाऽधिगन्तुमशक्यत्वादिति शङ्कामुट्टङ्कयितुमाह—

नाऽसन्तः संवेद्यत्वात् ॥ २६ ॥

न खल्वेते गुणा असन्तः संवेद्यत्वात् ॥ २६ ॥

हिन्दी—सहृदयों के संवेद्य होने के कारण ये गुण अविद्यमान नहीं हैं। ये गुण असत् नहीं हैं संवेद्य होने के कारण।

नाऽसन्त इति ओजःप्रमुखा एते गुणा, असन्त = तुच्छा न भवन्ति। कुतः ? संवेद्यत्वात्। सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात् ॥ २६ ॥

असार्वजनीननत्वादियं प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव किं न स्यादिति शङ्कामङ्कुरयित्वा समुन्मूलयितुमाह—

तद्विदां संवेद्यत्वेऽपि भ्रान्ताः स्युरित्याह—

न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात् ॥ २७ ॥

न गुणा भ्रान्ताः। एतद्विषयायाः प्रवृत्तेर्निष्कम्पत्वात् ॥२७॥

गुणज्ञों द्वारा ज्ञानगम्य होने पर भी ये गुण भ्रममूलक हो सकते हैं, उस पूर्वपक्ष के खण्डन में कहा गया है—

अबाधित (निष्कम्प) होने से ये गुण भ्रममूलक नहीं हैं।

गुण भ्रान्त नहीं हैं इस विषय की प्रवृति के अबाधित होने से ॥ १७ ॥

न भ्रान्ता इति। निष्कम्पत्वादसार्वजनीनत्वेऽप्यबाधितत्वादित्यर्थः ॥ २७ ॥

ओजःप्रमुखाः गुणाः पाठधर्मा इति प्रत्यवस्थातारम्प्रत्याह—

न पाठधर्माः सर्वत्राहष्टेः ॥ २८ ॥

इति वामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ गुणविवेचने

तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

नैते गुणाः पाठधर्माः । सर्वत्राऽदृष्टेः । यदि पाठधर्माः स्युस्तर्हि विशेषानपेक्षाः सन्तः सर्वत्र दृश्येरन् । न च सर्वत्र दृश्यन्ते । विशेषापेक्षया विशेषाणां गुणत्वाद् गुणाभ्युपगम एवेति ॥ २८ ॥

इति श्रीकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः गुणालङ्कारविवेकः, शब्दगुणविवेकश्च ॥३॥१॥

सब जगह (पाठमात्र में) नहीं पाए जाने के कारण ये गुण पाठधर्म नहीं हैं ।

ये गुण पाठ के धर्म नहीं हैं, सर्वत्र पाठ मात्र में नहीं देखे जाने से । यदि यदि ये गुण पाठ के धर्म होते तो विना किसी विशेषता की अपेक्षा के सर्वत्र (पाठमात्र में) दृष्टिगोचर होते । सर्वत्र तो नहीं देखे जाते हैं । विशेषता की अपेक्षा से विशेषों के गुण रूप में होने के कारण गुणों को स्वीकार करना ही है ॥ २८ ॥

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में गुणविवेचन नामक तृतीय अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

न पाठधर्मा इति । व्याचष्टे—नैते गुणा इति । सर्वत्रोदाहरणे पाठधर्मत्वे बाधकमाह—यदि पाठधर्माः स्युरिति । सहृदयसंविदालम्बनतया विशेषाः केचिदपेक्षणीयाः । त एव विशेषा गुणा इत्यभ्युपगन्तव्या इति ॥ २८ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ तृतीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

सम्प्रत्यर्थगुणविवेचनार्थमाह—

त एवार्थगुणाः ॥ १ ॥

त एवौजःप्रभृतयोऽर्थगुणाः ॥ १ ॥

हिन्दी—अब अर्थगुणों के विवेचन के लिए कहते हैं—

वे (ओज, प्रसाद आदि) ही अर्थ गुण भी हैं।

वे ओज आदि ही अर्थगुण भी हैं ॥ १ ॥

कारुण्यसम्पदुत्कूललावण्यगुणशालीनीम् ।
स्वच्छस्वच्छन्दवाचालां भावये हृदि भारतीम् ॥ १ ॥

शब्दगुणविवेचने कृते लब्धावसरमर्थगुणविवेचनमिति सङ्गतिमुल्लिङ्गयन्ननन्तरसूत्रमवतारयति—सम्प्रतीति ॥ १ ॥

शब्दगुणा एव चेदर्थगुणाः किमनेन विधान्तरविधानव्यसनेन। लक्षितत्वात् तेषामित्याशङ्क्य शब्दार्थगुणानान्नामतो भेदाभावेऽपि शब्दार्थोपश्लेषवशादस्ति भेद इत्याह—

शब्दार्थगुणानां वाच्यवाचकद्वारेण भेदं दर्शयति—

अर्थस्य प्रौढिरोजः ॥ २ ॥

अर्थस्याभिधेयस्य प्रौढिः प्रौढत्वमोजः ।

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च ॥

पदार्थे वाक्यवचनं यथा 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः'। अथ चन्द्रपदवाच्येऽर्थे नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव वाक्यं

प्रयुक्तम् । पदसमूहश्च वाक्यमभिप्रेतम् । अनया दिशाऽन्यदपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा–

पुरः पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना कृतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणगुणसंसर्गितवपुः ।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामो बदरमरसत्वं कलयति ॥

नचैवमतिप्रसङ्ग । काव्यशोभाकरत्वस्य गुणसामान्यलक्षणस्यावथितत्वात् । वाक्यार्थे पदाभिधानं यथा––दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी इति वक्तव्ये––निमिषति इत्याहेति । अस्य वाक्याऽर्थस्य व्याससमासौ । यथा––

अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः
सुखं वा दुःखं वा न भवति भवत्येव च ततः ।
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं किमपि तत्
पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं, न च सुखम् ॥

समासो यथा––

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धश्चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥

साभिप्रायत्वं यथा––

'सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा ।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥'

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च सुबन्धुं साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम् । एतेन 'रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्या' इत्यत्र सुकेश्या इत्यस्य च साभिप्रायत्वं व्याख्यतम् ॥२॥

हिन्दी—शब्दगुणों और अर्थगुणों का वाच्य और वाचक के द्वारा भेद दिखलाता है—

अर्थ की प्रौढ़ता ओज गुण है।

अभिधेय अर्थ की प्रौढ़ि अर्थात् प्रौढ़ता ओज नामक अर्थगुण है। अर्थगत प्रौढ़ि के पाँच प्रकार हैं, यथा (१) एक पद से प्रतिपाद्य अर्थ के बोधन के लिए वाक्य की रचना, (२) वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के बोध के लिए पद का प्रयोग, (३) अन्य प्रकार से अर्थ का विस्तार, (४) अन्य प्रकार से अर्थ का संकोच, (५) अर्थ का साभिप्रायत्व।

पद से प्रतिपाद्य अर्थ के बोध के लिए वाक्य का प्रयोग, यथा—अत्रि मुनि के नयन से उत्पन्न ज्योति (चन्द्रमा) के समान। यहाँ 'चन्द्र' पद से प्रतिपाद्य अर्थ के बोध के लिए 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' का प्रयोग हुआ है। पद-समूह वाक्य है यही यहाँ समझा गया है। इस तरह अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है, जैसे—

बेर फल सबसे पहले पाण्डु छाया युक्त, उसके बाद कपिल वर्णयुक्त उसके बाद पक जाने के कारण लालिमायुक्त, उसके बाद धीरे-धीरे सूखने पर नीची-ऊँची त्वचा से युक्त और अन्त में वन में ही गन्धहीन और रसहीन हो जाता है।

इस श्लोक में 'कपिल' एवं 'अरुण' अर्थ-बोधन के लिए क्रमशः 'कपिलिम्ना कृतपदं' अरुणगुणसंसर्गितवपुः' ये पद-समूह प्रयुक्त हुए हैं।

यहाँ अतिव्याप्ति की कोई आशंका नहीं है काव्यशोभाजनकत्वरूप गुण के सामान्य लक्षण विद्यमान होने से।

वाक्यार्थ के बोधन के लिए पद का प्रयोग, यथा—'यह दिव्य अप्सरा नहीं है अपितु मानुषी स्त्री है' इस वाक्यर्थ-बोधन के लिए 'निमिषति' कहा गया है।

(देव, देवी, यक्ष, अप्सराएँ पलक नहीं मारते हैं जब कि भूलोकवासी प्राणी पलक मारते हैं। अतः उपर्युक्त स्थल में 'निमिषति' (पलक मारती है) मात्र के प्रयोग से वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है।)

इसी प्रकार वाक्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ का व्यास (विस्तार) एवं समास (संक्षेप) भी पृथक्-पृथक् प्रौढि रूप अर्थगुण हैं।

व्यास का उदाहरण, यथा—

सुख और दुःख का सम्बन्ध नाना प्रकार का है—(१) सुख नहीं होता हैं, दुःख होता है, (२) दुःख नहीं होता, सुख होता है, (३) सुख और दुःख दोनों होते हैं, (४) सुख और दुःख दोनों नहीं होते हैं।

समास का उदाहरण, यथा—

वे हिमालय से मन्त्रणा कर और पुनः शिव से मिलकर और उन्हें कार्य-सिद्धि की सूचना देकर तथा विदा लेकर स्वर्ग को चले गए।

साभिप्रायत्व का उदाहरण, यथा—

सो यह चन्द्रप्रकाश, जो विद्वानों को आश्रय देने वाला, युवक तथा चन्द्रगुप्त का पुत्र है, राजा बन गया है।

'यहाँ 'आश्रयः कृतधियां' इस पद्यांश से सुबन्धु साचिव्य द्योतित होने से साभिप्रायत्व सिद्ध हुआ।

इससे—सुकेशी के रतिकार्य से शिथिल केशपाश में यहाँ 'सुकेश्याः' पद में साभिप्रायत्व कहा गया है ॥ २ ॥

वाच्येति। प्रागुद्देशपरिपाट्या प्रथमप्राप्तमोजः प्रतिपादयितुमाह—अर्थस्येति। वृत्तिः स्पष्टार्था। प्रौढि पद्येन पञ्चधा प्रपञ्चयति—पदार्थ इति। तत्राद्यमुदाहरति—पदार्थे इति। लक्ष्यलक्षणयोरानुकूल्यमुन्मीलयति—चन्द्रपदेति। 'तिङ्सुबन्तयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्युक्तलक्षणवाक्यं न विवक्षितम्। किन्तु पदसमुदायमात्रमभिमतमित्याह—पदसमूहश्चेति। अयं न्यायोऽन्यत्रापि सञ्चारणीय इत्याह—अनयेति। अन्यदपि दर्शयति—पुरः पाण्डुच्छायामिति। स्थपुटो निम्नोन्नतः। विष्कम्भ आभोगः। अत्र कपिलमिति वक्तव्ये कपिलिम्ना कृतपदमिति। शुष्कमिति वक्तव्ये शनैः शोषारम्भ इत्यादि च वाक्यं प्रयुक्तमिति पदार्थे वाक्यरचना। 'दक्षात्मजादयित-वल्लभवेदिकासु' इत्यादावतिप्रसङ्गं परिहरति— न चैवमिति। तत्र हेतुः—काव्यशोभाकरत्वस्येति। तत्र गुणसामान्यलक्षणाभावान्नाति-प्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयां प्रौढिं द्रढयति—वाक्यार्थ इति। किमियं देव्युत मानुषीति पृष्ट कश्चिदुत्तरमाह—निमिषतीति। अनेन मानुषधर्म-

वचिना पदेन देवीयं न भवती। किं तर्हि, मानुषीति वाक्यार्थः प्रतिपादतो भवति। पदार्थे वाक्यं, वाक्यार्थे पदमिति प्रौढेर्भेदाभ्यां व्याससमासौ पुनरुक्तौ स्यातामिति न शङ्कनीयम्। तत्र हि पदार्थो वाक्यार्थतां, वाक्यार्थश्च पदार्थतां प्रतिपद्यते। इह तु वाक्यार्थस्यैव व्यासो विस्तरः समासश्च संक्षेपो वाक्येनैवेति भेदादित्याह—अस्य वाक्यार्थस्येति। व्यासमुदाहरति—अयं नानाकार इति। अयमविसंवादितयाऽनुभूयमानः सुखदुःखव्यतिकरः। नानाकारोविचित्ररूपो भवतीति वाक्यार्थः। अस्यैव विस्तरः-सुखं वा दुखं वेत्यादिना कृत इति व्यासः। समासं समुन्मेषयति—ते हिमालयमिति। अत्र संक्षेपः स्फुटः। पञ्चमीं प्रौढि प्रपञ्चयति-साभिप्रायत्वमिति। पदान्तरप्रयोगमन्तरेण तदर्थप्रत्यायनप्रागल्भ्यं साभिप्रायत्वम्। लक्ष्यलक्षणयोरानुरूप्यं निरूपयति—आश्रयः कृतधियामिति। एतेनेति। न्यायेनेत्ति शेषः। सुकेश्या इत्यत्र कवेः केशसौष्ठवमभिप्रेतम्। कलापिकलापकदर्थनसामर्थ्य केशहस्तस्य समर्पयतीति साऽभिप्रायत्वम्। अस्य च विपर्ययो-व्यर्थमपुष्टार्थं च। अपुष्टार्थस्य दोषत्वं 'नापुष्टार्थत्वात्' इति सूत्रे वक्ष्यते। व्यर्थं यथा 'श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः' इत्यत्र श्यामाशब्दः कृष्णत्वमपि प्रतिपादयतीति श्यामलिमानमानयतेति श्यामलिम्नः करण व्याहतमिति व्यर्थम्। 'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी' इत्यादौ, तारकारिरिति स्थानेऽनुप्रासानुरोधात् प्रयुक्तं कार्तिकेय इति पदमपुष्टार्थम्॥ २॥

प्रसादं प्रसञ्जयितुमाह—

अर्थवैमल्यं प्रसादः ॥३॥

अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः। यथा—'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी' विपर्ययस्तु-'उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्'। काञ्चीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य लक्षितत्वाद् विशेषणस्याप्रयोजकत्वमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी—अर्थ की स्पष्टता प्रसाद गुण है।

अर्थ की स्पष्टता प्रयोजक पद मात्र से होती है और वही प्रसाद है। यथा—रूप और युवावस्था के आरम्भ से युक्त यह कन्या सवर्णा है।

अर्थस्पष्टता का प्रत्युदाहरण, यथा—मेरा हाथ विमलमणिकाञ्ची के स्थान को प्राप्त करे। यहाँ 'काञ्चीपदम्' इसी से नितम्ब के लक्षित हो जाने से 'विमलमणि' पद अविवक्षित एवम् अप्रयोजक है। अतः प्रसाद गुण का अभाव है ॥ ३ ॥

अर्थवैमल्यमिति। प्रयोजकमात्रपदपरिग्रह इति विवक्षितार्थसमर्पकपदमात्रप्रयोगः ततोऽर्थस्य यद्वैमल्यं स प्रसादः। नच पञ्चमप्रौढिप्रसादयोः को भेद इति वाच्यम्। तयोः परस्परपरिहारेण दर्शनात्। यथा 'रतिविगलितबन्धे केशहस्ते' इत्यादौ 'कृशाऽङ्ग्या' इति पाठे वैमल्येऽपि, न साभिप्रायत्वम्। 'अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदाम्' इत्यादौ साभिप्रायत्वेऽपि नार्थवैमल्यम्। सवर्णेत्यादि स्पष्टम्। अस्य विपर्ययोऽपुष्टार्थमनर्थकं च तत्राद्यमुदाहरति—विपर्ययस्त्विति। विशेषणस्याप्रयोजकत्वमित्यपुष्टार्थत्वमित्यर्थः। अनर्थकं तु प्रागुदाहृतम् ॥ ३ ॥

श्लेषमुन्मेषयितुमाह—

घटना श्लेषः ॥ ४ ॥

क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना। स श्लेषः।

यथा—

दृष्ट्वैकासनसङ्गते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते ॥ ४ ॥

हिन्दी—घटना श्लेष है।

क्रम (अनेक क्रियाओं का क्रम), कौटिल्य (चमत्कार-कौटिल्य), अनुल्वणत्व (प्रशस्त-वर्णनत्व) और उतपत्ति (युक्तविन्यास) का [योग ही घटना है, और वही श्लेष है । उदाहरण, यथा—

एक आसन पर इकट्ठी बैठी दो प्रियतमाओं को देखकर धूर्त नायक पीछे से आकर आदर से एक की आखें बन्दकर खेल का बहाना करता हुआ, गर्दन थोड़ा मोड़कर प्रसन्न मुद्रा में, प्रेम से आनन्दित मतवाली तथा मुस्कराहट से शोभित कपोलों वाली दूसरी नायिका को चूमता है ।

शुद्रक आदि विरचित नाटक आदि प्रबन्धों में श्लेष का बहुत विस्तार (प्रपञ्च) देखा जाता है ।। ४ ।।

घटनेति । मणिपुत्रिकादिषु मुखाद्यवयवयोजनेऽपि श्लेषणं घटना भवति, सा मा भूदित्याह—क्रमेति । नेत्रनिमीलनादीनां यः क्रमः परिपाटीं कौलिल्यश्च तयोरनुल्बणत्वेनोपपत्त्या युक्ततया पृच्छाक्षेपरूपतया बाधाभावस्वभावतया च योजनं घटना विवक्षिता । उदाहरति—दृष्ट्वेति । प्रियतमयोरेका स्वकीया, अपरा तत्सखी प्रच्छन्नाऽनुरागा । अन्यथा नास्त्येकासनसङ्गतिः । निमील्यमाननयना च न द्वेष्या । तथात्वे हि प्रियतमे इति कथम् । क्रीडामनुबध्नातीतिक्रीडानुबन्धं तच्च तच्छलं च । विहितं क्रीडानुबन्धच्छलं येन स तथोक्तः । अस्य विपर्ययो लोकविरुद्धत्वम् । यथा हि मधुरा या सौवीरेषु सक्ता, यथा मधुरा याऽश्लेषणसक्ता, तथैवैकासने प्रसिद्धपत्न्योरवस्थितिः । यथा मधौ कदम्बविकासः, तथा सपत्नीसन्निधावेकस्याः क्रीडा । यथा कलिका—मकरन्दो गोष्पदपूरः, तथा क्रमेण युगपद् वा द्वयोरेकस्या वा निधुवनमिति देशकालस्वभावैर्विरुद्धम् । प्रबन्धान्तरेषु भूयिष्ठमुदाहरणमस्ति तदूहनीयमित्याह—शूद्रकेति ।। ४ ।।

समतां समुन्मीलयितुमाह—

अवैषम्यं समता ।। ५ ।।

अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता । क्वचित् क्रमोऽपि भिद्यते ।

यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः ।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥

ऋतुसन्धिप्रतिपादनपरेऽत्र द्वितीये पादे क्रमभेदो, मलयमरुतामसाधारणत्वात् । एवं द्वितीयः पादः पठितव्यः—'मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः' इति ॥ ५ ॥

हिन्दी—अवैषम्य (विषमता का अभाव) समता गुण है ।

अवैषम्य अर्थात् प्रक्रम का अभेद समता है । कहीं-कहीं क्रम का भेद भी होता है, यथा—

कुन्द फूल से रहित हो गए हैं और अन्य पुष्पवृक्षों में ऋतु-सन्धि के कारण अभी खिलना आरम्भ नहीं हुआ है । वियोगियों को अधैर्य करनेवाला मलय-पवन चल रहा है । सूर्य की किरणें सर्दी के कुहासे को नष्ट कर रही हैं किन्तु पसीना उत्पन्न करने वाली अत्युष्णता को अभी प्राप्त नहीं हुई हैं ।

ऋतु-सन्धि (शिशिर और वसन्त ऋतुओं की सन्धि) के प्रतिपादक द्वितीय पाद में मलय-पवन के विशेष होने से प्रक्रम-भेद है । इसलिए इसका द्वितीय (संशोधित) पाठ पढ़ना चाहिए—

ये कोकिल मन ही मन बोलना चाहते हैं किन्तु ऋतु-सन्धि के कारण व्यक्त रूप से बोल नहीं रहे हैं ॥ ५ ॥

अवैषम्यमिति ॥ अवैषम्यं नाम प्रक्रमाभेदः, सुगमत्वं वा भवतीत्यभिसन्धाय प्राथमिकं पक्षमुपक्षिपति—अवैषम्यं, प्रक्रमाभेद इति । प्रक्रमस्याभेदो भेदाभावः । तत्प्रतिपत्तेः प्रक्रमभेदप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् प्रक्रमभेदं दर्शयितुं प्रथमतः प्रत्युदाहरणं दर्शयति—क्वचिदिति । अत्र प्रक्रमभेदं प्रतिपादयति–ऋतुसन्धीति । ऋत्वोः शिशिरवसन्तयोः सन्धिः ।

असाधारणत्वाद् वसन्तैकधर्मत्वादित्यर्थः। इदमेवोदाहरणयितुं पाठान्तरं प्रकल्पयति—एवं द्वितीय इति। 'मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः' इति पाठे प्रक्रमाऽभेदः स्फुटः ॥ ५ ॥

विवेकिनोऽत्र शिष्या इति कथमवैषम्यं प्रक्रमाभेद इति। तत्रारुच्या पक्षान्तरमुपक्षिपति—

सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति ॥ ६ ॥

सुखेन गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः। यथा—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि। यथा वा—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥

प्रत्युदाहरणं सुलभम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—अथवा सुगमता अवैषम्य है। जिससे सुगमता से अर्थ-बोध हो जाता है, यही तात्पर्य है, यथा—

'अत्स्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि। अथवा यथा—

पाण्डुपत्रों के बीच किसलय की तरह तपस्वियों के मध्य में घूंघट वाली, जिसका सौन्दर्य स्पष्ट परिस्फुटित नहीं होता है, यह कौन है ?

सुगमता (समता) का प्रत्युदाहरण सुलभ है ॥ ६ ॥

सुगमत्वं वेति। उदाहरति। का स्विदिति। अत्र सुगमत्वं। प्रत्युदाहरणं सुलभमिति। अस्य विपर्ययः—

क्रमादपक्रमं, क्लिष्टत्वं च। तदुभयमपि पूर्वमुदाहृतं द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

समाधिं सम्प्रधारयितुमाह—

अर्थदृष्टिः समाधिः ॥ ७ ॥

अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः। समाधिकारणत्वात् समाधिः। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ७ ॥

हिन्दी—अर्थ की दृष्टि समाधि गुण है।

अर्थ का दर्शन ही दृष्टि है और उसके समाधिमूलक होने से उसे समाधि कहते हैं। अवहित अर्थात् एकाग्र चित्त ही अर्थों को देखता है, यह पहले ही कहा गया है ॥ ७ ॥

अर्थदृष्टिरिति। ननु समाधिरवधानं, दर्शनं तु ज्ञानविशेषः। कथमुभयोः सामानाधिकरण्यमित्यतः आह—समाधिकारणत्वादिति। समाधिः कारणं यस्येति बहुव्रीहिः। कार्यकारणयोरुभयोरभेदमुपचार्योक्तमित्यर्थः। कार्यकारणभावमेव ज्ञापयति—अवहितं हीति। 'चित्तैकाग्र्यमवधानमि' ति सूत्रे प्रागुक्तमित्यर्थः। 'सद्यः कृत्तद्विरदरदनच्छेदगौरैः' इत्यादौ यथा छेदश्छिद्यमाने दन्तादौ पर्यवस्यति तथा दर्शनमत्र दृश्यमानेऽर्थे भवत्ययमर्थगुणः ॥ ७ ॥

द्वैविध्यमर्थस्य दर्शयितुमाह—

अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा ॥ ८ ॥

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिः सोऽर्थो द्विविधः—अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वेति। अयोनिरकारणः। अवधानमात्रकारण इत्यर्थः। अन्यस्य काव्यस्य छायाऽन्यच्छाया तद्योनिर्वा। तद्यथा—

आश्वपेहि मम शीधुभाजनाद् यावदग्रदशनैर्न दश्यसे।
चन्द्र मद्दशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात् ॥

मा भैः शशाङ्क मम शीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।

प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥
पूर्वस्य श्लोकस्यार्थोऽयोनिः। द्वितीयस्य च छायायोनिरिति ॥८॥

हिन्दी—वह अर्थ दो प्रकार का है—(१) आयोनि तथा (२) अन्यच्छायायोनि।

जिस अर्थ का दर्शन समाधि गुण है वह दो प्रकार का है, अयोनि और अन्यच्छायायोनि। अयोनि का अर्थ है अकारण, अर्थात् बिना अन्य कविकृति से प्रेरणा पाए रचना करना, अपि तु स्वयम् अपनी प्रतिभा से रचना करना। अन्य काव्य की छाया को अन्यच्छाया कहते हैं और वह जिस काव्य रचना का कारण है उसे अन्यच्छायायोनि कहते हैं। उदाहरण यथा—

मदिरा-पात्र में प्रतिबिम्बित चन्द्र को देख कर कवि कहता है—हे चन्द्र, मेरे शीधु-भाजन (मदिरा-पात्र) से शीघ्र भाग जाओ जब तक मैं तुम्हें प्रियमुख समझ कर दाँतों से काट न लूँ। मेरे दाँतों के चिह्नों से अङ्कित होकर तुम अपनी पत्नी रोहिणी के भय से आकाश को नहीं जा सकोगे।

यह कवि की अननुकृत कल्पना होने के कारण आयोनि अर्थमूलक समाधिगुण का उदाहरण है।

हे चन्द्र, डरो मत, मेरी मदिरा में राहु नहीं है। रोहिणी आकाश में रहती है, तो फिर हे कायर, तुम क्यों डरते हो? प्रायः चतुर वनिताओं के साथ नव संगमों के अवसर पर पुरुषों का मन चञ्चल हो जाता है, इसमें आश्चर्य क्या है?

प्रथम श्लोक का अर्थ मौलिक कल्पना-प्रसूत होने के कारण अयोनि है और दूसरा श्लोक का अर्थ प्रथम श्लोकार्थ की छाया में रचित होने के कारण अन्यच्छायायोनि है ॥ ८ ॥

अर्थो द्विविध इति। व्याख्यातुं पूर्वसूत्रार्थमनुवदति—यस्येति। अयोनिरिति। न विद्यते योनिः कारणं यस्येति विग्रहमभिसन्धायाभिधत्ते—अयोनिरकारण इति। कथमसति कारणमात्रे कार्योत्पत्ति-

रित्याशङ्क्य कवित्वबीजप्रतिभोन्मेषप्रयोजकमवधानमेवाऽत्र कारण-मित्यवगमयितुं नञा प्रसिद्धकारणं प्रतिषिद्धयत इत्याह—अहधानेति। विधान्तरं व्याकरोति—अन्यस्य काव्यस्येति। तद्योनिरित्यत्र सा छाया योनिर्यस्येति बहुव्रीहिः। प्रथमं भेदं दर्शयति। आश्वपेपीति। स्पष्टम्। विधान्तरं व्युत्पादयति—मा भैरिति। विभैषीत्यत्र मत्त इत्य-ध्याहार्यम्। स्त्रीणां प्रियस्य पुरतः स्ववैदग्ध्यप्रकटनमुचितमेवेत्यवगन्त-व्यम्। लक्ष्ये लक्षणमवगमयति—पूर्वस्येति। पूवभाविना कविना कृतत्वात्॥ ८॥

अर्थोऽव्यक्तः सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिरिति, स द्वेधा व्यक्तः सूक्ष्मश्च। व्यक्तः स्फुट उदाहृत एव ॥ ९ ॥

हिन्दी—अर्थ के दो प्रकार हैं व्यक्त और सूक्ष्म।

जिस अर्थ का दर्शन समाधि है यह दो प्रकार का है व्यक्त और सूक्ष्म। व्यक्त स्पष्ट है और उदाहरण भी पहले दिया जा चुका है॥ ९॥

द्विविधस्याप्यर्थस्य द्वैविध्यं दर्शयितुमाह—व्यक्तः सूक्ष्मश्चेति। व्यक्तार्थद्वयस्य प्रागुक्तमुदाहरणाद्वयं प्रत्येतव्यमित्याह—उदाहृत एवेति॥ ९॥

सूक्ष्मविभागं दर्शयितुं सूत्रमवतारयति—

सूक्ष्मं व्याख्यातुमाह—

सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च ॥ १० ॥

सूक्ष्मो द्वेधा भवति—भाव्यो, वासनीयश्च। शीघ्रनिरूपणा-गम्यो भाव्यः। एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति। भाव्यो यथा—

अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसंवलितार्धतारम् ।
लीलागृहे प्रतिकलं किलिकिञ्चितेषु
व्यावर्तमाननयनं मिथुनं चकास्ति ॥

वासनीयो यथा—

अवहित्थवलितजघनं विवर्तिताभिमुखकुचतटं स्थित्वा ।
अवलोकितोऽहमनया दक्षिणकरकलितहारलतम् ॥ १० ॥

हिन्दी—सूक्ष्म की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्म (अर्थ) भाव्य और वासनीय है ।

सूक्ष्म दो प्रकार का होता है—भाव्य और वासनीय । शीघ्र निरूपण से जो अर्थ जाना जाए उसे भाव्य कहते हैं । एकाग्रतापूर्ण ध्यान से जो अर्थ समझा जाय वह वासनीय (अर्थ) है । भाव्य का उदाहरण, यथा—

नायक और नायिका दोनों में परस्पर एक दूसरे को मांसल दन्तकान्ति मिश्रित हो रही है । दोनों उल्लास एवं आलस्य से युक्त हैं और आनन्दातिरेक अर्द्धमुद्रित नेत्र हैं । लीलागृह में प्रत्येक कला पर किलकिञ्चितों के अवसर पर दोनों की आँखें एक दूसरे की ओर आकृष्ट हैं और इस तरह नायक-नायिका का युगल सुशोभित हो रहा है ।

इस श्लोक में आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी-भाव के संयोग से रतिरूप स्थायीभाव के साधारणीकरण से रसोद्रेक होना बताया गया है । भावना द्वारा शीघ्र ज्ञान होने के कारण यह अर्थ भाव्य है ।

वासनीय का उदाहरण, यथा—

दोनों जंघाओं को परस्पर सटाकर, कुचतटों को सामने की ओर करके और दाहिने हाथ से हार को पकड़ती हुई इस नायिका द्वारा मैं देखा गया ॥ १० ॥

सूक्ष्ममिति। विभागं व्युत्पादयति—सूक्ष्म इति। भावकानामवधानमात्रेण विमर्शो भावना। तद्योग्यो भाव्यः। सहृदयसद्व्यवहारसमुल्लसितसंस्कारसम्पन्नो योऽवधानप्रकर्षस्तेन गम्यो वासनीयः। तदिदमभिसन्धायाह शीघ्रेति। आद्यमुदाहरति—भाव्यो यथेति। लीलागृहे मिथुनमुक्तविधं चकास्तीति वाक्यार्थः। अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्तीत्यनेन स्मितसँल्लापाधरास्वादादयः, सोल्लासमित्यनेन हर्षोत्सुक्यादयः, अलसमित्यनेन श्रमाङ्गदौर्बल्यादयः, किलिकिञ्चितेषु व्यावर्तमाननयनमित्यनेन प्रणयकलहगर्वभयकम्पादयश्च व्यज्यन्ते। 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलिकिञ्चितम्' इति दशरूपके तल्लक्षणकथनात्। अत्र मिथुनमालम्बनविभावः। लीलागृहमुद्दीपनविभावाः। अधरास्वादाङ्गवलमास्मतकम्पनयननव्यावर्तनभ्रूभेदादयोऽनुभावाः। उल्लासितान्मीलितहर्षौत्सुक्यादयः किलिकिञ्चिताक्षिप्तक्रोधशोकभयगर्वाश्च सञ्चारिणः इत्थं विभावानुभावसञ्चारिभिरास्वादनीयतामापाद्यमानो रतिलक्षणः स्थायीभावः साधारण्येन चर्व्यमाणतैकप्राणः सम्भोगशृङ्गारो रसः। तदुक्तं दशरूपके—

'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥ इति।

वासनीयमुद्भासयति—वासनीय इति। अवहित्थेति। अवहित्थमाकारगोपनम्। दुर्लभस्त्वत्संभोगः त्वय्येव लग्नमिदं मदीयं मनः, दुरन्तसन्तापशान्तये हारलतिकेयमेका मयि दाक्षिण्यमवलम्बत इत्येवं स्वभिप्रायप्रकाशनमवधानप्रकर्षेणात्र सहृदयसंवेद्यम्। अत्र विप्रलम्भशृङ्गारः। विभावादयः स्वयमूह्याः। अस्य गुणस्य विपर्ययो—ग्राम्यत्वम्; 'स्वपिति यावद्' इत्यादौ द्रष्टव्यम्॥ १०॥

माधुर्यं पर्यालोचयितुमाह—

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्॥ ११॥

उक्तेर्वैचित्र्यं यत्तन्माधुर्यमिति। यथा—

रसवदमृतं, कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥ ११ ॥

हिन्दी—उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य गुण है ।

उक्ति का जो वैचित्र्य है वह माधुर्य गुण है, यथा—

अमृत रसवान् होने से सुस्वादु है इसमें सन्देह क्या ? मधु में भी अन्य प्रकार के आस्वाद नहीं हैं । सुन्दर रसमय आम का फल भी बहुत मधुर होता है । परन्तु अन्य रसों को जानने वाला विद्वान् एक बार भी निष्पक्षपात होकर यह बतावे जो प्रिया के अधर पान से बढ़कर कोई स्वादिष्ट पदार्थ इस संसार में है ? ॥ ११ ॥

उक्तिवैचित्र्यमिति । वर्ण्यमानस्यार्थस्य प्रकर्षे प्रतिपाद्ये भङ्ग्यन्तरेणोक्तिरुक्तिवैचित्र्यम् । रसवदमृतमिति । कस्यचिन्नागरिकस्येयमुक्तिः । अमृतं रसवद्भवत्येव । मधून्यपि नान्यथा रसवन्त्येव । प्रसन्नरसं चूतस्यापि फलमधिकं मधुरमेव । कः सन्देह इति सर्वत्रानुसज्ज्यते । तथापि रसान्तरवित् सकृदपि रसविशेषाभिज्ञो जनो मध्यस्थः सन् वदतु । रसज्ञोऽपक्षपाती चेदन्यत् स्वादु भवतीति न वदेत् । तादृशवस्त्वन्तरासम्भवादित्यर्थः । नानाविधोपमानाऽतिशायि दशनच्छदमिति वक्तव्ये, रसवदमृतमित्यादिभङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनादत्र माधुर्यम् । अस्य गुणस्य विपर्ययो—ह्येकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः कथनमित्येकार्थत्वम् । प्राय एकार्थश्रुतेर्वैरस्यात् कष्टत्वं वा ॥ ११ ॥

सौकुमार्यं समाख्यातुमाह—

अपारुष्यं सौकुमार्यम् ॥ १२ ॥

पुरुषेऽर्थे अपारुष्यं सौकुमार्यमिति । यथा 'मृतं, यशःशेष-

मित्याहुः। एकाकिनं देवताद्वितीयमिति। गच्छेति साधयेति च ॥ १२ ॥

हिन्दी—कठोरता का अभाव सौकुमार्य गुण है।

कठोर अर्थ के प्रतिपादन में कठोरता का अप्रयोग ही सौकुमार्य गुण है, यथा—(१) 'मर गया' इस अर्थ के प्रतिपादन में 'यश मात्र ही अवशेष है' इस वाक्य का प्रयोग, (२) 'एकाकी' के अर्थबोध के लिए 'देवताद्वितीय' अर्थात् 'परमात्मा सहायक है जिसका' इस वाक्य का प्रयोग और (३) किसी को विदा करने के समय में 'जाओ' इस कठोर अर्थ-बोध के लिए अपना कार्य 'सिद्ध करो' इस वाक्य का प्रयोग ॥ १२ ॥

अपारुष्यमिति। परुषे अमङ्गलातङ्कदायिन्यर्थे वर्णनीये यदपारुष्यं तत् सौकुमार्यमिति लक्षणार्थः। उदाहरणानि स्पष्टानि। अस्य गुणस्य विपर्ययोऽश्लीलत्वम् ॥ १२ ॥

उदारतामुदीरयितुमाह—

अग्राम्यत्वमुदारता ॥ १३ ॥

ग्राम्यत्वप्रसङ्गे अग्राम्यत्वमुदारता। यथा—

त्वमेव सौन्दर्या स च रुचिरतायां परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अयि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥

विपर्ययस्तु—

स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते।
इति निगद्य शनैरनुमेखलं मम करं स्वकरेण रुरोध सा ॥१३॥

हिन्दी—ग्राम्यत्व का अभाव उदारता गुण है।

ग्राम्यत्व के प्रसङ्ग में अग्राम्यत्व का प्रयोग उदारता है, यथा—

तुम ऐसी अतिसुन्दरी हो और वह (माधव) भी सुन्दरता में जगत्प्रसिद्ध है। कलाओं की परम सीमा को तुम्ही दोनों प्राप्त हो रहे हो। हे सुन्दरी (मालति) तुम दोनों का जोड़ा सौभाग्य से अनुरूप बैठता है। अतः जो कुछ (विवाह आदि) शेष बचा है वह भी यदि सम्पन्न हो जाय तो यहाँ गुणित्व की विजय होगी। किन्तु प्रत्युदाहरण यथा—

जबतक वह आदमी नजदीक में सोता है तब तब मैं सो जाता हूँ, इसमें तेरा क्या बिगड़ता है, यह धीरे से मुझे कहकर उस महिला ने अपनी मेखला की ओर बढ़ते हुए मेरे हाथ को अपने हाथ से रोक दिया ॥ १२ ॥

अग्राम्यत्वमिति। अत्र कन्ये! कामयमानं कान्तं कामयस्वेति वक्तव्ये ग्राम्यर्थे यदौचित्येन प्रतिपादनं सोदारता। त्वमेवमिति एवं वर्णनापथोत्तीर्णतयाऽनुभूयमानं सौन्दर्यं यस्याः सा तथोक्ता। स च माधवो रुचिरतायां सौन्दर्यविषये परिचितः संस्तुतः, प्रसिद्ध इति यावत। युवां, स च त्वं च। युवामेव परमिह लोके कलानां सीमानं भजथः। अयि हे मालती! वा युवयोः द्वन्द्वं मिथुनं दिष्टचा भाग्येन संवदति सदृशं भवतीत्यर्थः। अतः शेषं पाणिग्रहरूपं मङ्गलं कर्म स्याच्चेत् तदानीं गुणितया गुणवत्त्वेन जितम्। युवयोर्गुणसम्पत्तिर्विश्वातिशायिनो भवेदित्यर्थः। अत्र प्रथमं त्वं चेति पृथक्तयोक्तेः, ततो युवामिति मिश्रीकरणेन, तदनन्तरं द्वन्द्वमिति, ततः शेषमिति च विवक्षितार्थव्यञ्जनमुखेन फलपर्यवसायित्वमित्यौचित्यशालिना क्रमेण कामन्दक्या मालतीमुद्दिश्योक्तमिति स्पष्टमुदाहरणत्वम्। प्रत्युदाहरणं प्रत्याययितुमाह—विपर्ययस्त्वति। स्वपितीति। अत्र कश्चित् कामी वयस्याय रहस्यं कथयति। अयं निकटे जनः परिसरसञ्चारी जनो यावत् स्वपिति, यावता कालेन नियतं कर्म निर्वृत्य निद्राति। तावत्, तावन्तं कालं, स्वपिमि। ते किमपैति तावता कालविलम्बेन तव का हानिर्भवति। इत्युक्तप्रकारेण शनैरुपांशु निगद्य कथयित्वा, अनुमेखलं मेखलासमीपे प्रसारितं मम मे करं स्वकरेण रुरोध निरुद्धवती। स्पष्टं ग्राम्यत्वम् ॥ १२ ॥

अर्थव्यक्ति समर्थयितुमाह—

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ॥ १४ ॥

वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः। यथा पृष्ठेषु शंखशकलच्छविषु च्छदानां राजीभिरङ्कितमलक्तक-लोहिनीभिः। गोरोचनाहरितबभ्रुबहिःपलाशमामोदते कुमुद-मम्भसि पल्वलस्य ॥ यथा वा—

प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रं स्थितं पृथुकेसरै-
र्विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाङ्मिलितं ततः।
तदनु वलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहिर्दलै-
र्मुकुलनविधौ वृद्धाऽब्जानां बभूव कदर्थना ॥ १४ ॥

हिन्दी—वस्तु के स्वभाव का स्फुटत्व अर्थव्यक्ति गुण है।

वर्ण्य वस्तुओं के स्वभाव की जो स्पष्टता है उसे अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं, यथा—

शङ्ख-खण्ड के सदृश कान्ति वाली पंखुड़ियों के पीछले भाग में अलक्तक (महावर) के समान लाल रेखाओं से अंकित, गोरोचना के समान हरित बाहरी में पलाश-पत्र के समान भूरे रङ्ग से युक्त कुमुद पुष्प छोटे तालाब के जल में खिल रहा है।

इस श्लोक में कवि ने सूर्योदय के समय में तालाब में खिलते हुए कमल के विकास का स्पष्ट वर्णन किया है।

पहले मुरझाए हुए कमल केसरों का अग्रभाग नीचे झुक गया और बाद में बिरली-बिरली पंखुरियां परस्पर एक दूसरे से मिल गई हैं। उसके बाद बाहरी पंखुरियां कुछ संकुचित हो गईं। इस तरह पुराने कमलों के सम्पुटित होने में कदर्थना हुई ॥ १४ ॥

वस्त्विति। व्याचष्टे। वस्तूनामिति। अशेषविशेषैर्वर्णने पुरः इव प्रतिभासमानत्वमर्थस्य स्फुटत्वम् उदाहरति—पृष्ठेष्विति। शङ्ख-शकलच्छविषु पृष्ठेषु चरमभागेषु, अलक्तकलोहिनीभी रेखाभिरङ्कितं; गोरोचनावद्धरितानि बभ्रूणि कपिशानि बहिःपलाशानि यस्य तत् कुमुदं; पल्वलस्य वेशन्तस्याऽम्भसि, आमोदते, आमोदमुद्गिरतीति योजना। उदाहरणान्तरमाह—प्रथममिति। प्रथममलसैः पृथुकेसरैः पर्यस्ताग्रं शैथिल्यशालिशिखरं स्थितम्। ततः परं विरलविरलैरत्यन्त-शिथिलैरन्तःपत्रैर्मनागीषन्मिलितम्। तदनु बहिर्दलैर्वलनामात्र सङ्कोच-क्रियारम्भमात्र किञ्चिद् व्यधायि। इत्थं वृद्धाऽब्जानां कदर्थना क्लेश-दशा बभूवेति योजना। अस्य विपर्ययः—सन्दिग्धत्वं, क्लिष्टत्वं च॥ १४॥

कान्ति कथयितुमाह—

दीप्तरसत्वं कान्तिः॥ १५॥

दीप्ता रसाः श्रृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः। यथा—

प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनात् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत् प्रत्युत पाणिसम्पुटलसन्नीवीनितम्बं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः॥

एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्। अत्र श्लोकाः—

गुणस्फुटत्वसाकल्य काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चाऽयमुपमीयते॥
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः॥

गुणानां दशतामुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः ॥१५॥ इति॥

इति श्रीपण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
गुणविवेचने तृतीयेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
समाप्तं चेदं गुणविवेचनं तृतीयमधिकरणम् ।

हिन्दी—दीप्तरसत्व कान्ति गुण है। शृङ्गार आदि रस दीप्त हैं जिस रचना में उसे दीप्तरस कहते हैं और उसका भाव अर्थात् दीप्तरसत्व को कान्ति गुण कहते हैं, यथा—

सायं काल में पैरों पर गिरे एवं शपथ खाते हुए प्रेमी पुरुष को कान्ता ने बहिष्कृत कर दिया। खिन्न होकर वह पुरुष वास-भवन से दो-तीन कदम भी जब तक नहीं आ पाया था कि तबतक खोलते हुए नीवीवस्त्र एवं नितम्ब को पकड़ती हुई उस नायिका ने स्वयमेव दौड़कर उस पुरुष को प्रणामपूर्वक पकड़ लिया। अहो प्रेम की विचित्र गति है।

इस तरह अन्य रसों में भी उदाहरणीय है। इस प्रसङ्ग में श्लोक है—

गुणों की स्पष्टता और पूर्णता को 'काव्यपाक' कहते हैं और आम के परिणाम अर्थात् 'आम्रपाक' से इसकी उपमा दी जाती है।

सुप्, तिङ् का संस्कारमात्र सार है जिस रचना में उसमें वस्तुगुण (अर्थगुण) क्लिष्ट हो जाता है और उस काव्य को 'वृन्ताकपाक' कहा जाता है। उस काव्य से कवि लोग डरते हैं।

जिस काव्य का अर्थ दशों शब्द गुणों और अर्थगुणों से रहित है वह काव्य निरर्थक है। महाभाष्यकार के 'दाडिमानि दश' इत्यादि की तरह निरर्थक वाणी विचार के योग्य नहीं होती ॥ १५ ॥

गुणविवेचननामक तृतीय अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त।

दीप्तरसत्वमिति। व्याचष्टे—दीप्ता इति। दीप्ता विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्ताः। प्रेयानिति। अत्र विप्रलम्भपूर्वकसम्भोगशृङ्गारः। एवं रसान्तरेष्विति। शृङ्गारो द्विविधः—सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदादपरिच्छेद्यः। तत्रैको भेद उदाहृतः। विप्रलम्भस्तु परस्पराभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः। तत्राद्यो यथा—

> प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
> स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
> यास्वान्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
> दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥

एवमन्येऽपि विप्रलम्भभेदा ज्ञातव्याः।

वीरो यथा—

> क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहतु हरयो भिन्नशक्रेभकुम्भा
> युष्मद्गात्रेषु लज्जां दधति परममी सायकाः सम्पतन्तः।
> सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषो नन्वहं मेघनादः
> किञ्चिद् भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि॥

करुणो यथा—

> हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाऽऽशिषो
> धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहो गात्रेषु दग्धे दृशौ।
> इत्थं गद्गदकण्ठरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
> श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि॥

अद्भुतो यथा—

> चित्रं महानेष बताधिकारः क्वः कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गी।
> लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काव्याकृतिर्नूतन एष सर्गः॥

हास्यो यथा—

> आकुञ्च्य पाणिमशुचिर्मम मूर्ध्नि वैश्या
> मन्त्राऽम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे

तारस्वनं प्रहितसीत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥

भयानको यथा—

ग्रीवाभङ्गाऽभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभिया भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

रौद्रो यथा—

एतत्करालकरवालनिकृत्तकण्ठनालोच्चदबहुलबुद्बुदफेनिलौघैः ।
सार्धं डमड्डमरुडात्कृतिहूतभूतवर्गेण भर्गगृहिणीं रुधिरैर्धिनोमि ॥

बीभत्सो यथा—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यस्थिस्फिक्पृष्ठपीठाद्यवयवजटिलान्युग्रपूनिति जग्ध्वा ।
आत्तस्नाय्वान्त्रनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसन्धिस्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमात्ति ॥

शान्तो यथा—

अहौ वा हारे वा कुशुयशयने वा दृशदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित् पुण्येऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥

एवं भावा अप्युदाहार्याः । इत्थमर्थगुणान् समर्थ्य काव्यस्य गुण-स्फुटत्वसाकल्याभ्यां तदभावेन चोपादेयत्वानुपादेयत्वे सदृष्टान्तमाचष्टे । गुणस्फुटत्वेति । गुणानां स्फुटत्वं साकल्यं च, स चायं काव्यपाकः । सुप्तिङां संस्कारो यथाशस्त्रं प्रकृतिषु प्रत्यययोजनमेव सारः स्थिरांशो यस्य । क्लिष्टा अस्फुटा वस्तुनोऽर्थस्य गुणा यस्य । अनेन स्फुटगुणव्यावृत्तिः सूचिता । वृन्ताकस्य पाक इव पाको यस्य । तत् काव्यम् । ततो

जना जुगुप्सन्ते। किमुत कवय इति भावः। गुणानामिति। दशता दशसंख्यापरिमितेन वर्गेणेत्यर्थः। 'पञ्चद्दशतौ वर्गे इति निपातितो दशच्छब्द। अपार्थं वाक्यमुदाहरति। दाडिमानीति। दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्ड इति वाक्यं विचारयोग्यं न भवति। अतोऽलङ्कारशास्त्राद् दोषगुणस्वरूपं विज्ञाय कविर्दोषाञ्जह्याद् गुणानाददीतेत्युपदेशः ॥ १५ ॥

इति कृतरचनायामिन्दुवंशोद्वहेन
त्रिपुरहरधरित्रीमण्डलाखण्डलेन।
ललितवचसि काव्यालंक्रियाकामधेना-
वधिकरणमयासीत् पूर्तिमेतत् तृतीयम् ॥ १ ॥

इति श्रीगोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचितायां वामनालङ्कारसूत्र-
वृत्तिव्याख्यायां काव्यालङ्कारकामधेनौ गुणविवेचने
तृतीयेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

केचित् प्रष्टव्यप्रश्नाः

(आ० प्र० तृ० प्रश्नपत्रे १९८१)

१. तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।
इति सूत्रं व्याख्याय गुणालङ्कारयोः
भेदम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिपादयत ।
अस्योत्तरं क्रमशः २, ४ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

(१९८२ प्रश्नपत्रे)

२. वस्तुस्वभाव-स्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः इति
गुणः सोदाहरणं सयुक्तिकं च प्रतिपाद्यताम् ।

अथवा

समाधिगुणस्य लक्षणमुदाहरणञ्च निरूप्य
तद्गताम् अर्थस्य दृष्टिं सविस्तरं विवेचयन्तु ।
अस्योत्तरं क्रमशः ३१, ३२ पृष्ठे विवेचनीयम् ।